प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

पहली बार : १९४८
मूल्य
अढ़ाई रुपए

मुद्रक,
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस
दिल्ली । १३-४८

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी उन इने-गिने चिन्तकों में से हैं, जिनकी मूल निष्ठा भारत की पुरानी संस्कृति में है, लेकिन साथ ही नूतनता का आश्चर्यजनक सामंजस्य उनमें पाया जाता है। भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, ज्योतिष और विभिन्न धर्मों का उन्होंने गहराई के साथ अध्ययन किया है। उनकी विद्वत्ता की झलक इस पुस्तक के निबन्धों में स्पष्ट दिखाई देती है। द्विवेदीजी की एक और विशेषता है। वह यह कि छोटी-से-छोटी चीज़ को भी वे सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं। बसंत आता है, हमारे आसपास की वनस्थली रंग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित हो उठती है, लेकिन हममें से कितने हैं, जो उसके उस आकर्षक रूप को देख और पसंद कर पाते हों? अपनी जन्म-भूमि का इतिहास हम में से कितने जानते हैं? पर द्विवेदीजी की पैनी आंख उन छोटी, पर महत्वपूर्ण, चीजों को बिना देखे नहीं रह सकी।

शिक्षा और साहित्य के बारे में द्विवेदीजी का दृष्टिकोण बहुत ही स्वस्थ है। पाठक देखेंगे कि तद्विषयक निबंधों में साहित्य एवं शिक्षा को जन-हित की दृष्टि से ढालने की उन्होंने एक नवीन दिशा सुझाई है। यदि उसका अनुसरण किया जा सके तो राष्ट्र के उत्थान के लिए बड़ा काम हो सकता है।

पुस्तक की भाषा और शैली के बारे में तो कहना ही क्या। भाषा चुस्त और शैली प्रवाहयुक्त है। कहीं-कहीं पर कठिन शब्दों का प्रयोग सामान्य पाठक को खटक सकता है; लेकिन प्रत्येक शब्द के साथ कुछ ऐसा वातावरण रहता है कि कभी-कभी कठिन शब्दों के प्रयोग से बचा नहीं जासकता।

हमें आशा है कि पाठक इस संग्रह से अधिकाधिक लाभ उठावेंगे और द्विवेदीजी की अन्य रचनाओं को भी यथासमय प्रकाशित करने का हमें अवसर देंगे।

—मन्त्री

विषय-सूची

१.	अशोक के फूल	१
२.	वसन्त आ गया है	११
३.	प्रायश्चित्त की घड़ी	१४
४.	घर जोड़ने की माया	२५
५.	मेरी जन्मभूमि	३१
६.	सावधानी की आवश्यकता	३६
७.	क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?	५०
८.	हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली	५६
९.	भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या	६४
१०.	भारतीय संस्कृति की देन	७७
११.	हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री	९१
१२.	संस्कृत का साहित्य	९९
१३.	पुरानी पोथियाँ	१०७
१४.	काव्य-कला	११९
१५.	रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान	१३१
१६.	एक कुत्ता और एक मैना	१४९
१७.	आलोचना का स्वतन्त्र मान	१५६
१८.	साहित्यकारों का दायित्व	१६३
१९.	मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है	१७९
२०.	नया वर्ष आ गया	२०२
२१.	भारतीय फलित ज्योतिष	२१०

: १ :

अशोक के फूल

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में और इसीलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की

प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिन्जनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ-गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधनाके पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या सो गई थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके!

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है? ईसवी सन् के आरंभ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्‌भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही

सुझाया है कि गंधर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है तथापि है वह गंधर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्धधर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये—न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू-रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परंपरा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जल कर राख हो गया और वामन-पुराण (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्न-मय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहां मूठ थी वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और

चम्पे का फूल बन गया ! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई ! स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं !

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूं। इस कथा का रहस्य क्या है ? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं ? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले ?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं—यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुवेर, सोम, अप्सराएँ—यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं; तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्धसाहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गये हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं ! यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुवेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों

की स्त्रियाँ प्राय: नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझ-कर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं?

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियां बाद में देवयोनि-जात मान ली गईं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवासभूमि है। इनका समाज संभवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसायटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम। परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व-स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार-वाणिज्य-

वाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्तीकाल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे। परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गंधर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जायं? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बड़ी अद्‌भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तवकों को देखता हूं तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राज-घरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल

हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हल्की रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास ! किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चंदन और पुष्प-संभार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अञ्जलि बखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है ? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है ? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है !

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो; परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य ढह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियों को गंधर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया !

मुझे मानवजाति की दुर्दम निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न

जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है; पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का गर्व-खण्डन किया है, धर्मराज ने कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है! आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायगा, कौन जानता है। मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूं और उनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायंगी, कौन जानता है! मैं क्या शोक से उदास हुआ हूं? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्पों

को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था--अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो—"किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता-श्रवणार्पितः !'—परन्तु शाखाग्रों में लंबित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस से आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूं।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी ? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था वह लुप्त हो गई, धर्माचारियों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी वह वाष्प की भांति उड़ गई, तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा ? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी। उनके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया ! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये, शैव बह गये, शाक्त बह गये। उन दिनों 'श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूं। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था ! कौन

बतायगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी शोक-स्तवक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है!

मगर उदास होना भी बेकार ही है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ-वर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहां बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहां, अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूं, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!

: २ :

वसन्त आ गया है

जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूं उसके आस-पास कुछ थोड़े-से पेड़ हैं। एक शिरीष है, जिस पर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियां अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गये हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं। जरा-सी हवा चली नहीं कि अस्थिमालिका वाले उन्मत्त कापालिक भैरव की भांति खड़खड़ाकर झूम उठते हैं—'कुसुम जन्म ततो नव पल्लवाः' का कहीं नाम–गंध भी नहीं है। एक नीम है, जवान है, मगर कुछ अत्यन्त छोटी किसलयिकाओं के सिवा उमंग का कोई चिह्न उसमें भी नहीं है। फिर भी यह बुरा मालूम नहीं होता। मसें भीगी हैं और आशा तो है ही। दो कृष्णचूड़ाएं हैं। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के हाथ से लगी वृक्षावलि में ये आखिरी हैं। इन्हें अभी शिशु ही कहना चाहिए। फूल तो इनमें कभी आये नहीं, पर वे अभी नादान हैं। भरे फागुन में इस प्रकार खड़ी हैं मानो आषाढ़ ही हो। नील मसृण पत्तियां और सूच्यग्र शिखन्त। दो-तीन अमरूद हैं, जो सूखे सावन भरे भादों कभी रंग नहीं बदलते—इस समय दो-चार श्वेत पुष्प इन पर विराजमान हैं, पर ऐसे फूल माघ में भी थे और जेठ में भी रहेंगे। जाती पुष्पों का एक केदार है, पर इन पर ऐसी मुर्दनी छाई हुई है कि मुझे कवि प्रसिद्धियों पर लिखे हुए एक लेख में संशोधन की आवश्यकता महसूस हुई है। एक मित्र ने अस्थान में एक मल्लिका का गुल्म भी लगा रखा है, जो किसी प्रकार बस जी रहा है। दो करबीर और एक कोरिदार

के झाड़ भी उन्हीं मित्र की कृपा के फल हैं, पर वे बुरी तरह चुप हैं। कहीं भी उल्लास नहीं, उमंग नहीं और उधर कवियों की दुनिया में हल्ला हो गया, प्रकृति-रानी नया शृंगार कर रही है, और फिर जाने क्या-क्या। कवि के आश्रम में रहता हूँ। नितान्त ठूंठ नहीं हूँ; पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे। दो कांचनार वृक्ष इस हिंदी-भवन में हैं। एक ठीक मेरे दरवाजे पर और दूसरा मेरे पड़ौसी के। भाग्य की विडम्बना देखिये कि दोनों एक ही दिन के लगाये गये हैं। मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है। पड़ौसी वाला कमजोर, मरियल। परन्तु इसमें फूल नहीं आये और वह कम्बख्त कन्धे पर से फूल पड़ा है। मरियल-सा पेड़ है, पर क्या मजाल कि आप उसमें फूल के सिवा और कुछ देखें! पत्ते हैं ही नहीं और टहनियां फूलों से ढक गई हैं। मैं रोज देखता हूं कि हमारे वाले मियां कितने अग्रसर हुए। कल तीन फूल निकले थे। उनमें दो तो एक संथाल-बालिका तोड़कर ले गई। एक रह गया है। मुझे कांचनार फूल की ललाई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फूलों की पकौड़ियां भी बन सकती हैं। पर दुर्भाग्य देखिये कि इतना स्वस्थ पेड़ ऐसा सूना पड़ा हुआ है और वह कमजोर दुबला लहक उठा है! कमजोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी।

पढ़ता-लिखता हूं। यही पेशा है। सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे ही थोड़ा-बहुत जानता हूं। पढ़ा है, हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं है, इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूं कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि वसन्त आ गया। पर इन कम्बख़्तों को कोई खबर ही नहीं! कभी-कभी सोचता हूं कि इनके पास तक सन्देशा पहुंचाने का क्या कोई साधन नहीं हो सकता? महुआ बदनाम है कि उसे सबके बाद वसन्त का अनुभव होता है; पर जामुन कौन अच्छा है! वह तो और भी बाद में फूलता है! और कालिदास का लाड़ला यह कर्णिकार? आप जेठ में मौज में आते हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि वसन्त भागता-भागता चलता है। देश में नहीं, काल में। किसी का वसन्त पन्द्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का। मौजी है अमरूद। बारह महीने इसका वसन्त ही वसन्त है। हिन्दी-भवन के सामने गंधराज पुष्पों की पाँत है। ये अजीब हैं, वर्षा में ये खिलते हैं, लेकिन ऋतु विशेष के उतने कायल नहीं हैं। पानी पड़ गया तो आज भी फूल ले सकते हैं। कवियों की दुनिया में जिसकी कभी चर्चा नहीं हुई, ऐसी एक घास है—विष्णुकान्ता। हिन्दी-भवन के आंगन में बहुत है। कैसा मनोहर नाम है! फूल और भी मनोहर होते हैं। जरा-सा तो आकार होता है, पर बलिहारी है उस नील मेदुर रूप की। बादल की बात छोड़िए, जरा-सी पुरवैया बह गई तो इसका उल्लास देखिये। बरसात के समय तो इतनी खिलती है कि मत पूछिए। मैं सोचता हूं कि इस नाचीज लता को सन्देश कैसे पहुंचता है? थोड़ी दूर पर वह पलास ऐसा फूला हुआ है कि ईर्ष्या होती है। मगर उसे किसने बताया कि वसन्त आ गया है? मैं थोड़ा-थोड़ा समझता हूं। वसंत आता नहीं, ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। वह मरियल कांचनार ले आया है। अपने मोटे-राम तैयारी कर रहे हैं। और मैं?

मुझे बुख़ार आ रहा है। यह भी नियति का मज़ाक ही है। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि वसंत आ रहा है, और मेरे पास आया बुख़ार। अपने कांचनार की ओर देखता हूं और सोचता हूँ, मेरी ही वजह से तो यह नहीं रुका है?

: ३ :

प्रायश्चित्त की घड़ी

पांच वर्षों के निरन्तर रक्तपात के बाद महायुद्ध समाप्त हो गया, पर दुनिया में शान्ति नहीं आई। जिन राष्ट्रों के सिर पर दुश्मनों के पैर जमे हुए थे वे धूल झाड़कर फिर विजयी राष्ट्रों के दल में आ खड़े हुए हैं और चौगुने उत्साह और निर्लज्जता के साथ पूर्व के राष्ट्रों की महत्त्वाकांक्षा को हमेशा के लिए कुचल देने का प्रयत्न करने लगे हैं। राष्ट्रीय अपमान ने इन्हें न लज्जित किया है, न बुद्धिमान् बनाया है; परन्तु जनशक्ति निश्चित रूप से जाग गई है। क्या पूर्व में और क्या पश्चिम में, सर्वत्र जनता की शक्ति बढ़ी है और साम्राज्यवादी शक्तियां हतवीर्य बन गई हैं। इतिहास-विधाता की योजना उन 'बुद्धिमानों' की योजना से बिलकुल भिन्न मालूम पड़ रही है, जो जनशक्ति को दबा कर मनमानी करना चाहते हैं। संपूर्ण जगत् की जन-जाग्रति को देखकर जहां अपार आनन्द होता है वहां दुश्चिन्ता अपनी ओर देखकर हो रही है। क्या हम जन-जाग्रति को सहन करने योग्य शक्ति को पा सके हैं? क्या भारतवर्ष का वह समुदाय, जिसे आज थोड़ा-बहुत बोलना आता है, इस देश की मूक और दलित जनता की जाग्रति को सहन करने लायक मानसिक बल और बौद्धिक साहस रखता है? युग-युगान्तर के संचित पाप का प्रायश्चित्त करने लायक अनुताप हमारे चित्त में अब भी नहीं आ सका है। हम आज भी काल्पनिक भारत-माता का जय-निनाद करते जा रहे हैं। भारत-माता वस्तुतः क्या है, यह समझने

की चेष्टा बहुत कम हो रही है। पूर्व और पश्चिम में जिस प्रकार की जन-जाग्रति हो रही है उसे देखकर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत-माता जिस दिन अपने कोटि-कोटि दलित, हीन, निरन्न, निर्वस्त्र बालकों को लेकर जाग पड़ेगी उस दिन की हालत हमारी कल्पना के बाहर होगी। उस दिन के लिए हमें अभी से तैयार रहना होगा।

भारतवर्ष क्या है? हमें इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि भारतवर्ष उन करोड़ों दलित और मूक जनता से अभिन्न है, जिन्हें छूने से भी पाप अनुभव किया जाता है। इनकी संख्या कम नहीं है। समूचे भारतीय जन-समूह के इतने स्वर-भेद हैं कि उन सबका हिसाब रखना बड़े-से-बड़े धैर्यशाली के लिए भी कठिन कार्य है। एक विदेशी नृतत्त्व-वेत्ता ने हैरान होकर कहा है कि भारतवर्ष में एक भी ऐसी जाति नहीं मिली, जो किसी-न-किसी दूसरी जाति की अपेक्षा अपने को बड़ी न मानती हो। फलतः यह समझना बड़ा कठिन है कि सबसे नीच समझी जानेवाली जाति कौन है! जन-जाग्रति यदि सच-मुच हुई तो उसका सीधा अर्थ होगा इस स्तरभेद पर सीधी चोट। मनुष्य जब मनुष्य समझा जायगा उस दिन युग-युग के संचित संस्कारों को बड़ी ठेस लगेगी, भयंकर प्रतिक्रिया होगी और यदि उस महा आघात को सहने योग्य तप और स्वाध्याय हमने अभी नहीं संचय कर लिया तो इस ग़रीब देश का क्या होगा, सो नहीं कहा जा सकता।

इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं और अन्य अनेक धर्म के मानने वाले हैं, परन्तु मुख्य रूप से हिन्दू हैं और हिन्दुओं में भी उनकी संख्या अधिक है, जो समाज में कुछ खास जातियों की अपेक्षा कम सम्मान पाते हैं। जातियों के सम्मान का प्रश्न विचित्र रूप से जल और अन्न आदि के स्पर्श के साथ जड़ित है। साधारणतः इस सम्बन्ध की चार मोटी तह हैं। इन तहों के भी अनेक परत हैं; पर मुख्य तह ये हैं: (१) वे जातियां जिनके देखने मात्र से ब्राह्मण तथा

अन्य ऊँची समझी जानेवाली जातियों के अन्न अग्राह्य हो जाते हैं और शरीर अपवित्र हो जाते हैं; (२) वे जातियां जिनके शारीरिक स्पर्श से ऊँची जाति के आदमी का शरीर और अन्न दोनों अपवित्र हो जाते हैं; (३) वे जातियां जिनके स्पर्श से शरीर तो नहीं, पर पानी या घृत-पक्व अन्न अपवित्र हो जाते हैं और (४) वे जातियां जिनके स्पर्श से पानी या घृतपक्व अन्न तो नहीं, पर कच्ची रसोई अपवित्र हो जाती है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती हैं। चौथी श्रेणी की अनेक जातियों की गणना ऊँची जातियों में होती हैं। इस प्रकार की जातियों से ही भारतीय जन-समूह का संगठन हुआ है। ये ही लोग 'भारतवर्ष' हैं। इन्हीं की प्रतीकात्मक संघमूर्ति का नाम 'भारतमाता' है। भारतमाता का जय-जयकार वस्तुतः इन तहों को नष्ट कर देने का संकल्प है। संभवतः बहुत थोड़े लोग ही यह बात महसूस करते हैं।

परन्तु इन कृत्रिम तहों को नष्ट कर देना आसान काम नहीं। इनके निर्माण में शताब्दियों का समय लगा है। इसका इतिहास बड़ा जटिल है। हमें इनको यथार्थ रूप में अध्ययन करना चाहिए। वस्तुस्थिति को समझे बिना प्रतिकार का विधान सम्भव नहीं है।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि भारतीय जन-समूह और उसकी सामाजिक परिस्थिति का वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक ढंग से नहीं हुआ है। कुछ विदेशी विद्वानों ने इस प्रकार के अध्ययन का प्रयत्न किया है; पर उनकी अपनी त्रुटियों के कारण यह अध्ययन सब समय ऐसा नहीं हुआ है, जिसका हम भावी भारतवर्ष के निर्माण में यथेच्छ उपयोग कर सकें। ये अध्ययन कभी-कभी विशुद्ध उत्सुकतावश और कभी शासन-कार्य के सुभीते के लिए किये गए हैं। फिर भी इनसे बहुत-से तथ्यों का उद्घाटन हुआ है और हम अपने प्रिय भारतवर्ष की अवस्था को ठीक-ठीक अनुभव करने में कुछ सहायता पा सकते हैं। इस महान् जन-समूह के वैज्ञानिक अध्ययन के कई प्रकार के वर्गीकरण समझे गये। सभी 'जातियों' का संघटन या उद्भव एक ही मूल से नहीं हुआ।

है। यद्यपि भारतीय विषयों के अध्ययन के लिए यह प्रथा चल पड़ी है कि अध्येतव्य विषय का सम्बन्ध वेदों से स्थापित किया जाय, अर्थात् प्रत्येक का मूल पुरानी संहिताओं में खोजा जाय और इसीलिए एक श्रेणी के पण्डित जातियों के इस असंख्य स्तरभेद का मूल भी उनमें खोज निकालते हैं, परन्तु सही बात तो यह है कि वर्तमान जटिल अवस्था का मूल केवल वैदिक वर्ण-व्यवस्था नहीं है। और भी कारण हैं और इन कारणों की जानकारी केवल समझने के लिए ही आवश्यक नहीं, उनके समय अत्यन्त विचित्र और विस्मयकर रहस्यों को खोल देते हैं। पंडितों ने विश्लेषण करके देखा है कि ऐसी अनेक जातियां है जो किसी घुमक्कड़ कबीले का परिवर्तित रूप हैं। उदाहरणार्थ आभीर (या अहीर) एक ऐसी विशेष मानवश्रेणी थी, जो इस देश की वर्तमान सीमाओं के बाहर के प्रदेश से घूमती-घामती इस देश में आई और अपने अनेक आचार-विचारों के साथ आज भी अपनी अलग सत्ता बनाए हुए है। यह जाति शुरू में लुटेरी समझी गई थी, पर शीघ्र ही यह भाव दूर हो गया और बाद में चल कर इसकी मर्यादा क्षत्रियों की होगई। इसने बड़े-बड़े राज्य स्थापित किये और अन्त तक भारतीय साहित्य और धर्ममत को बहुत दूर तक प्रभावित करने में समर्थ हुई। इस श्रेणी की कई जातियां भारतवर्ष में हैं। इनकी प्रधान विशेषता यह होती है कि अन्दरूनी मामलों में वे अपना विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन बनाए रहती हैं और अपनी विशेष रीति-नीति का पालन करती हैं; परन्तु आंशिक रूप में ब्राह्मण-श्रेष्ठता मान लेती हैं। एक बार ब्राह्मण-श्रेष्ठता मान लेने के बाद वे छुआछूत वाले स्तर-भेद को भी स्वीकार कर लेती हैं। ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार करने के भी कई स्तरभेद हैं। कुछ जातियाँ विवाह, श्राद्ध आदि के अवसर पर ब्राह्मण की सहायता लेती हैं, कुछ इतना भी नहीं करतीं। डोम, दुसाध, भूमिज आदि जातियाँ ऐसी हैं, जिन्होंने ब्राह्मण-श्रेष्ठता तो मान ली है, पर शायद ही उनके किसी अनुष्ठान से ब्राह्मण का सम्पर्क हो। विचित्र

बात यह है कि खास-खास जातियों के अपने 'ब्राह्मण' अलग होते हैं और दूसरे ब्राह्मण उनको बहुत सम्मान नहीं देते।

(२) कुछ ऐसी जातियां हैं जो खास प्रकार के काम करने के कारण अलग श्रेणी की मानी जाती हैं। चमार चाम का काम करने वाली जाति है, लुहार लोहे का। पेशे के कारण 'जाति' का होना कुछ अद्भुत-सी बात है और फिर भी तथ्य यह है कि इस महादेश में पेशों के नाम पर सैकड़ों जातियां हैं; परन्तु हर प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध हुआ है कि 'पेशे' के हिसाब से नाम-करण होने पर 'पेशा' जाति का कारण नहीं है। इतिहास के नाम पर जो कुछ अनुश्रुतियां बच रही हैं उनके साथ विभिन्न युग के प्राप्त साहित्य का मिलान करने पर स्पष्ट ही लगता है कि कुछ ख़ास श्रेणी के लोग कुछ ख़ास पेशों को स्वीकार करने के कारण अपनी मूल जाति से च्युत होकर हीन हो गये हैं। कभी-कभी ख़ास पेशों के कारण जातियां ऊँची भी उठी हैं। उत्तर भारत में आर्यों के साथ आर्येतर मानव-मंडलियों का रक्त-सम्बन्ध बहुत अधिक हुआ है और बहुत सी छोटी समझी जाने वाली जातियों का मूल इतिहास एकदम लुप्त हो गया है। जहाँ तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे ले जाता है, वहाँ तक यह पता नहीं चलता कि इन जातियों में अधिकांश का मूल रूप क्या था और इसीलिए पेशों को ही 'जाति' का मूल कारण समझ लिया जाता है। पर हाल में नृतत्त्वशास्त्रीय जो प्रमाण संग्रह किये जा सके हैं उनसे इस धारणा की सचाई पर सन्देह होता है। रिज़ली और घुर्ये जैसे निपुण पर्यवेक्षकों का कहना है कि उत्तर भारत के चमारों में बंगाल के ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक आर्य-सादृश्य है, फिर भी उत्तर भारत के चमार चमार हैं और बंगाल के ब्राह्मण ब्राह्मण। इसका ऐतिहासिक कारण है। उत्तर भारत के चमार किसी आर्येतर मानव-मण्डली का वर्तमान रूप हैं। यद्यपि उनमें आर्य रक्त अधिक आ गया, फिर भी उनकी सामाजिक मर्यादा जैसी-की-तैसी बनी हुई है। यह जाति उस जुलाहे के हुक्के की भाँति है जिसका नारियल भी सात

बार बदला गया था और डंडा भी सात बार; परन्तु हुक्का फिर भी वही था! रसेल और हीरालाल के अनुसन्धानों से पता लगा है कि मध्यप्रदेश की कंजर, बेरिया आदि जातियाँ बंगाल के डोमों की शाखाएँ हैं। डोम जाति किसी समय बंगाल की बहुत शक्तिशाली जातियों में गिनी जाती थी। कहते हैं कि यूरोप की ख़ानाबदोश (जिप्सी) जातियाँ इन्हीं डोमों की औलाद हैं। वे आज भी भारतीय भाषाएँ बोलती हैं और ग्रियर्सन जैसे भाषातत्त्वज्ञ ने एक बार कहा था कि यूरोप में इन ख़ानबदोशों के लिए जो 'रोम' और 'रोमनी' शब्द प्रचलित हैं, वे वस्तुत: डोम और डोमनी (डोमन) के रूपान्तर मात्र हैं। कहते हैं, इन्हीं 'रोम' और 'रोमनी' लोगों की साहसिकता को देखकर साहित्य का बहु समादृत 'रोमांस' शब्द गढ़ा गया था। सो डोम लोग ही 'रोमांस' के जनक हैं! रसेल का अनुमान है कि अधिक खोज होने पर समूची व्यवसायमूलक जातियों का इस प्रकार का मूल खोजा जा सकता है।

जब हम कहते हैं कि 'पेशे' से जाति का परिचय कुछ अद्भुत बात है तो इसका मतलब यह है कि जाति का सम्बन्ध इस देश में तीन बातों से है: जन्म, छुआछूत और विवाह। पेशा केवल सामाजिक मर्यादा को घटाने या बढ़ाने में सहायक होता है। एक ही पेशे वाली जातियाँ आपस में विवाह नहीं करतीं और प्राय: एक-दूसरे का छुआ अन्न-जल नहीं ग्रहण करतीं। केवल 'पेशा' स्वीकार करने से कोई व्यक्ति उस पेशे वाली जाति का सदस्य नहीं हो सकता।

(३) इस देश में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करने के कारण अनेक धार्मिक आंदोलन हुए हैं, परन्तु उनसे जाति-प्रथा टूटी नहीं है; उल्टे कई धार्मिक सम्प्रदाय अन्त तक चलकर अलग 'जाति' ही बन गये हैं। उत्तर भारत के 'अतीथ' (अतिथि) और गोसाईं, बंगाल के बोस्टम (वैष्णव) और जुगी (योगी) ऐसी ही जातियाँ हैं। धार्मिक आंदोलनों ने इस जटिल व्यवस्था को जटिलतर बना दिया है। धार्मिक

सम्प्रदायों के आधार पर बनी जातियाँ नितान्त कम नहीं हैं। आथेल्स्टेन ने १६०१ ई० की मनुष्य-गणना के आधार पर ऐसी नौ मुख्य जातियों (जिनमें अनेक उपभेद भी हैं) की चर्चा की थी, जिनकी सम्मिलित संख्या ९५ लाख के आसपास थी।

(४) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो वस्तुतः 'राष्ट्रीय जातियाँ' कही जा सकती हैं। नेपाल के नेवार ऐसे ही हैं। फिर इन जातियों के मिश्रण से, अन्यत्र जाकर बस जाने के कारण मूल जाति से च्युत हो जाने से तथा अन्य राजनैतिक एवं सामाजिक कारणों से सैकड़ों जातियाँ बन गई हैं। यही नाना जातियों, सम्प्रदायों और फ़िर्क़ों में बंटा हुआ शत-च्छिद्र भारतवर्ष है। इसी को मनुष्यता के दरबार में ले जाने के लिए हम कृतप्रतिज्ञ हैं।

यह जो नाना जाति-उपजातियों में विभक्त हिन्दू समाज है वह प्रधान रूप से धर्म की स्थितिशीलता में विश्वास करता है। उसके मत से समाज की यह शृंखला अनादिकाल से चली आ रही है; परन्तु अनेक जातियों की सामाजिक मर्यादाओं के उतार-चढ़ाव के इतने प्रमाण मौजूद हैं कि यह कह सकना साहस-मात्र रह गया है कि दीर्घकाल से यह मर्यादा ज्यों-की-त्यों चली आ रही है। कितने ही राजाओं ने अपने निजी कारणों से कितनी ही जातियों की मर्यादा स्थिर कर दी है। प्रतापगढ़ के अहीर और कुर्मी राजा माणिकचन्द नामक किसी शासक की कृपा से ब्राह्मण हो गये थे, ऐसा कैम्पबेल और क्रुक ने लिखा है। असोथर के राजा भागवतराय ने अरली के नोतियों को जनेऊ देकर ब्राह्मण बनाया था। कहते हैं, उन्नाव के राजा तिलकचन्द ने प्यास की मार से हैरान होकर एक लोध के हाथ का जल पी लिया था और बाद में उसे ब्राह्मण बना लिया था। बंगाल के राजा बल्लाल सेन ने शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा की थी कि यदि सुवर्ण वणिकों को पतित न बनाऊँ तो मुझे गो-ब्राह्मण-हत्या का पातक लगे।* आचार्य क्षितिमोहन

*बल्लालचरित, २३ अध्याय।

सेन ने इस प्रकार के परिवर्तनों का एक लम्बा लेख अपनी पुस्तक में संग्रह किया है† और उसे समाज में जीवन और गति का प्रमाण माना है। पंडितों ने वैदिक साहित्य के अध्ययन के बल पर यह प्रमाणित किया है कि मूल आर्य जाति में ब्राह्मण, क्षत्रिय और विशू (वैश्य) यह तीन ही स्तर थे। विशू या वैश्य साधारण जनता थी, जो कृषि, गो-रक्षा और वाणिज्य से जीविका चलाती थी। लैटिन का vicus शब्द इसी विशू, वेश और वैश्य का समशील है। वैश्यों का पीत वर्ण कहा जाता है। वह वस्तुतः गाय के घी और सोने के रंग का प्रतिपादक है; परन्तु आजकल की बनिया जाति वैश्यों का आधुनिक रूप नहीं है। वैदिक युग में ही 'वानि' नामक एक श्रेणी थी, जो व्यवसाय करती थी। मनुष्य-गणना में 'बनिया' जाति के अंदर जितनी उपजातियों के नाम आये हैं उनमें सबने अपना सम्बन्ध राजपूताने से बताया है। रसेल ने तो ज़ोर देकर कहा है कि बनिया जाति वस्तुतः राजपूतों का रूपान्तर है, वैदिक वैश्यों का नहीं। कुछ ऊँची जातियों का पुराना इतिहास तो निश्चयपूर्वक युद्ध-विग्रह और राज्य-शासन का इतिहास है। पंजाब के यौधेय बड़े गर्वीले क्षत्रिय थे। कालान्तर में इनकी एक शाखा को तलवार छोड़कर तराजू पकड़नी पड़ी थी और एक दूसरी शाखा को धर्मान्तर ग्रहण करना पड़ा था। कुछ पंडितों का विश्वास है कि तराजू पकड़नेवाली जाति ही प्रसिद्ध अग्रवाल जाति है और धर्मान्तर करनेवाले अब भी सिन्ध में 'जोहीआ' के नाम से अपना अलग अस्तित्व बनाये हुए हैं। गुजरात के कुछ ब्राह्मणों और बंगाल के कायस्थों के आसाद और गोत्र एक देखकर कुछ देशी पंडितों ने अनुमान किया था कि कायस्थ जाति वस्तुतः ब्राह्मण है। इधर हाल में कायस्थों में अपने को क्षत्रिय मानने की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है। राजपूती सेना का वह अंग जो कलेवा की रक्षा करता था आगे चलकर

---

†भारतवर्ष में जाति-भेद, पृ० १२९–१५०।

कलवार के रूप में बदल गया। राजपूतों के कलेवा में मादक द्रव्य भी होता था और आगे चलकर इस मादक द्रव्य ने कलवार की सामाजिक मर्यादा घटा दी। इस प्रकार यह हिन्दू समाज कभी वैसा ही नहीं रहा है, जैसा आज है और कभी वैसा रहेगा भी नहीं।

इतिहास में इस बात के अनेक सबूत हैं कि आर्थिक स्थिति अच्छी होते ही कई जातियाँ क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण बन गई हैं। आर्थिक विषमता के कारण कभी-कभी एक ही जाति दो भागों में बँट गई है। सम्पन्न श्रेणी ऊँची जाति में मान ली गई है और असम्पन्न जाति निचली श्रेणी। बुनना इस देश में बुरा पेशा समझा जाता रहा है। जुलाहों की सामाजिक मर्यादा बराबर नीचे रही है, परन्तु एक ऐसा जमाना भी गया है जब बुनने की कारीगरी बहुत उन्नत हो गई और सम्राटों घर में बुननेवालों का सम्मान होने लगा। आर्थिक अवस्था सुधरने के कारण अनेक वयनजीवी जातियाँ ऊपर उठी हैं। कुछ ताँती तो इतने उत्तम हो गये कि बंगाल में उनकी मर्यादा कायस्थों के समान हो गई।

हमने ऊपर देखा है कि जाति प्रथा से विद्रोह करने के लिये अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए हैं, पर उन्होंने समस्या को दूर करने में सफलता नहीं पाई। जब तक विद्रोही व्यक्ति या दल समाज से बाहर रहकर मठों और विहारों में अविवाहित जीवन व्यतीत करते रहे तब तक वे सम्मान पाते रहे, पर ज्योंही वे घरबारी हुए कि उनकी सामाजिक मर्यादा अत्यन्त हीन हो गई। आश्रम-भ्रष्ट संन्यासी हिन्दू-समाज में कोई विशेष सम्मान नहीं पाता। चैतन्य महाप्रभु ने धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मण और चाण्डाल में भेद नहीं रखा, पर यह सम्मिलित जन-मंडली जब विवाह करके वंश चलाने लगी तो अलग जाति बन गई। इस प्रकार प्रत्येक झाड़ू देनेवाले ने यहाँ ईंट-ढेलों को नये सिरेसे जमा कर दिया है। शंकराचार्य के चेलों की जाति बनी, गोरखनाथ के चेलों की जाति बनी, चैतन्य के चेलों की जाति बनी और अनुमान है कि अन्ततः राजा राममोहन राय के शिष्य भी इसी ओर बढ़ रहे हैं। इस प्रकार धर्म को केंद्र करके जो आन्दोलन

हुए हैं उनसे समस्या सुलझी नहीं है, अर्थात् छोटी समझी जानेवाली जातियों की मर्यादा ऊँची नहीं उठी है; परन्तु आर्थिक और राजनैतिक कारणों से बहुत-सी हीन समझी जाने वाली जातियों की सामाजिक मर्यादा ऊपर उठी है और समाज के उच्च स्तर के लोगों ने उनका दावा स्वीकार किया है। इस देश में बहुत-से साधुमना व्यक्ति हैं, जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का 'उद्धार' हो जायगा। बहुत-से लोग इनका छुआ अन्न ग्रहण कर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारक समझते हैं। यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। जन-जाग्रति जिस दिन सचमुच होगी उस दिन ऊँची मर्यादा वाले इनका 'उद्धार' नहीं करेंगे। ये स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनायँगे। वह एक अपूर्व समय होगा जब शताब्दियोंसे पद-दलित, निर्वाक्, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों के फूत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार माँगेगी। उस दिन हमारी सभी कल्पनाएँ न जाने क्या रूप धारण करेंगी, जिन्हें हम 'भारतीय सभ्यता', 'हिन्दू-संस्कृति' आदि अस्पष्ट और भुलावने शब्दों से प्रकट किया करते हैं। मैं हैरानी के साथ सोचता हूं कि क्या हममें उस महान् ऐतिहासिक घटना को सहने का साहस है? निस्सन्देह यह जाग्रति धर्म और समाज-सुधार का सहारा नहीं लेगी। वह आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों पर क़ब्ज़ा करेगी।

हम लोग बहुत दिनों से जनता-जनार्दन शब्द का व्यवहार करते आ रहे हैं, दीर्घकाल से बालिग़ मताधिकार की माँग पेश कर रहे हैं, समय आ रहा है जब हमारी इन रटी बोलियों की परीक्षा होगी। क्या हम सच-मुच इन दीन-हीन लोगों के हाथ में शासन-भार देने का साहस रखते हैं? क्या सचमुच हम इनके हाथमें समूचे राष्ट्रकी संपत्ति उसी प्रकार छोड़ देने को तैयार हैं, जिस प्रकार भक्त अपना समूचा आपा जनार्दन को सौंप देता है? यदि नहीं तो हमने अज्ञानपूर्वक इन शब्दों का जप किया है। परीक्षाका दिन आ रहा है, पर ऊँची समझी जाने वाली जातियों के लिये वह शायद प्रायश्चित्त का दिन होगा। युग-युगान्तर

के पाप का प्रायश्चित्त कठोर होगा। इतिहास ने जनता-जनार्दन के अपने रूपों का परिचय दिया है; परन्तु भावी जनार्दन का रूप शायद अपूर्व और अद्‌भुत होगा। संजय ने भगवान् के विराट् स्वरूप को स्मरण करके कहा था कि भगवान के उस रूप को स्मरण करते ही मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं और महान् विस्मय हो रहा है। भविष्य का इतिहास-लेखक भी जनता-जनार्दन के इस रूप को देख कर संजय की तरह ही विस्मय-विमुग्ध होकर कहेगा—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्‌भुतं हरेः
विस्मयो मे महान् राजन् रोमहर्षश्च जायते।

: ४ :

घर जोड़ने की माया

१९४२-४३ में मैंने कबीरदास के संबंध में एक पुस्तक लिखी। पुस्तक लिखने की तैयारी दो-ढाई साल से कर रहा था और नाना प्रकार के प्रश्न मेरे मन में उठते रहे। मुझे सबसे अधिक आश्चर्य कबीरदास के परवर्ती साहित्य को पढ़ कर हुआ। जिस धर्मवीर ने पीर, पैगम्बर, औलिया आदि के भजन पूजन का निषेध किया था, उसी की पूजा चल पड़ी; जिस महापुरुष ने संस्कृत को कूपजल कहकर भाषा के बहते नीर को बहुमान दिया था उसी की स्तुति में आगे चलकर संस्कृत भाषा में अनेक स्तोत्र लिखे गए और जिसने बाह्याचारों के जंजाल को भस्म कर डालने के लिए अग्नि-तुल्य वाणियां कहीं, उसकी उन्हीं वाणियों से नाना बाह्याचारों की क्रियाएं सम्पन्न की जाने लगीं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है? कबीरोपासना-पद्धति में सोने का, उठने का, बैठने का, दिशा जाने का, तूँबा धोने का, हाथ मटियाने का, धोने का, दातून करने का, जल में पैठने का, स्नान करने का, दर्पण करने का, चरणामृत देने और लेने का, जल पीने का, घर बुहारने का, चूल्हे आग डालने का, परसने का, अंचाने का तथा अन्य अनेक छोटे-मोटे कर्मों का मन्त्र दिया गया है। टोपी लगाने का, दीपक बारने का, आसन लगाने का, कमर कसने का, रस्ता चलने का सुमिरन दिया हुआ है। यः मन्त्र बीजक आदि ग्रन्थों की वाणियों से लिये गये हैं। आवश्यकतानुसार उनमें थोड़ा-बहुत घटा-बढ़ा लेने में विशेष संकोच नहीं अनुभव

किया गया। वाणियां भी ज़रूरत पड़ने पर बना ली गई हैं। इस प्रकार दातून का मन्त्र यह है:

सत्त की दातौन सन्तोष की झारी।
सत्त नाम ले बसो विचारी
किया दातौन भया परकास
अजर नाम गहो विश्वास
अमी नाम ले पहुँचे आय।
कहै कबीर सब लोक सिधाय।

चूल्हा में आग देने का मन्त्र इस प्रकार है:

चूल्हा हमारे चौहटे सब घर तपे रसोई।
सत्त सुकृत भोजन करें हम को छूत न होई।

थारी परसने का मन्त्र:

चन्दन चौका कंचन थारी। हीरालाल पदुम की झारी
बहुत भांति जेवनार बनाये। प्रेम प्रीति सों पारस कराये।
सन्त सुहेल भोजन पायी। सत्त सुकृति सत्त नाम गुसाईं।

मेरे मन में बराबर यह प्रश्न उठता रहा कि ऐसा क्यों हुआ? कबीर-पंथ की ही यह हालत हो, ऐसा नहीं है। अनेक महान् धर्मगुरुओं के आन्दोलन अन्त तक जाति-पांति के ढकोसलों, चूल्हा-चाकी के निरर्थक विधानों और मन्त्र-यन्त्र के क्रान्तकर टोटकों में पर्यवसित हो गये हैं। बुद्धदेव ने ईश्वर के विषय में कोई बात तक कहना पसन्द नहीं किया, परन्तु उनका प्रवर्तित विशाल धर्ममत मंत्र-यन्त्र में समाप्त हो गया। यह नहीं कहा जा सकता कि जनता में अपने धर्मगुरुओं के प्रति श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा को अतिरेक ही तो सर्वत्र पाया जाता है। कबीरदास ने अवतारों और पैगम्बरों की पूजा की कड़े शब्दों में निन्दा की। उनके शिष्यों ने श्रद्धा के अतिरेक में उन्हें जिस प्रकार भवफन्द को काटने वाला समझकर स्तुति की, यह शायद किसी भी पीर-पैगम्बर के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है:

नमो आद ब्रह्मं अरूपं अनामं
भई आप इच्छा रचे सर्व धामं
न जानामि कोई करै कौन ख्यालं
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालं

× × ×

तुही कोट कोटान ब्रह्माण्ड कीन्हों
तुही सर्व को सर्वदा सुक्ख दीन्हों
बसे सर्व में सर्व रूपं दयालं
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालं

× × ×

सबै संत कारन्न तोहीं बतावैं।
एही वेद ब्रह्मादि षट् शास्त्र गावैं।
जपे नाम तेरो भजे जो त्रिकालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालं।

× × ×

लहै ज्ञान विज्ञान कैवल्य पूरं।
महामोह माया रहे ताहि दूरं।
लखे ताहि उरमें महा चित्तकालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालं

फिर वह कौन-सी वस्तु है जो अनुयायियों को अपने गुरु के उपदेशों के प्रतिकूल चलने को बाध्य करती है ? यह कहना ग़लत है कि अनुयायी जानबूझकर अपने धर्मगुरु के वचनों की अवमानना करते हैं। वस्तुतः अनुयायी धर्मगुरु की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही बहुधा ग़लत मार्ग ग्रहण करते हैं। वे लक्ष्य को प्राप्ति के लिए ऐसे साधनों का उपयोग निस्संकोच करने लगते हैं, जो लक्ष्य के साथ मेल नहीं खाते और बहुधा उसके विरोधी होते हैं। हजरत ईसा मसीह अहिंसामार्ग के प्रवर्तक थे; परन्तु उनकी महिमा संसार में प्रतिष्ठित करने के लिए सौ-सौ वर्षों

तक रक्त की नदियाँ बहती रही हैं। हमें इतिहास को ठंढे दिमाग़ से समझना चाहिए। सचाई का सामना ईमानदारी के साथ करना चाहिए।

जब किसी महापुरुष के नाम पर कोई संप्रदाय चल पड़ता है तो आगे चलकर उसके सभी अनुयायी कम बुद्धिमान् होते हैं, ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी शिष्यपरम्परा में ऐसे भी शिष्य निकल आते हैं, जो मूल संप्रदाय-प्रवर्तक से भी अधिक प्रतिभाशाली होते हैं। फिर भी संप्रदाय-प्रतिष्ठा का अभिशाप यह है कि उसके भीतर रहनेवाले की स्वाधीन चिन्ता कम हो जाती है। संप्रदाय की प्रतिष्ठा ही जब सब से बड़ा लक्ष्य हो जाता है तो सत्य पर से दृष्टि हट जाती है। प्रत्येक बड़े 'यथार्थ' की संप्रदाय के अनुकूल संगति लगाने की चिन्ता ही बड़ी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधन की शुद्धि की परवा नहीं की जाती। परन्तु यह भी ऊपरी बात है। साधन की शुद्धि की परवा न करना भी असली कारण नहीं है, वह भी कार्य है; क्योंकि साधन की अशुचिता को सत्यभ्रष्ट होने का कारण मान लेने पर भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी साधन की अशुचिता के शिकार क्यों बन जाते हैं? कोई ऐसा बड़ा कारण होना चाहिए, जो बुद्धिमानों की अक्ल पर आसानी से परदा डाल देता है। जहां तक कबीरदास का संबंध है उन्होंने अपनी ओर से इस कारण की ओर इशारा कर दिया था। घर जोड़ने की अभिलाषा ही इस प्रवृत्ति का मूल कारण है। लोग केवल सत्य को पाने के लिए देर तक नहीं टिके रह सकते। उन्हें धन चाहिए, मान चाहिए, यश चाहिए, कीर्ति चाहिए। ये प्रलोभन 'सत्य' कही जानेवाली बड़ी वस्तु से अधिक बलवान् साबित हुए। कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जो उनके मार्ग पर चलना चाहता हो वह अपना घर पहले फूँक दे—

कबीर खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना सो चले हमारे साथ।

घर फूँकने का अर्थ है धन और मान का मोह त्याग देना, भूल

और भविष्य की चिन्ता छोड़ देना और सत्य के सामने सीधे खड़े होने
में जो कुछ भी बाधा हो उसे निर्ममता-पूर्वक ध्वंस कर देना। पर सत्यों
का सत्य यह है कि लोग कबीरदास के साथ चलने की प्रतिज्ञा करने के
बाद भी घर नहीं फूँक सके। मठ बने, मंदिर बने, प्रचार के साधन
आविष्कार किये गये और उनकी महिमा बताने के लिए अनेक पोथियाँ
रची गईं। इस बात का बराबर प्रयत्न होता रहा कि अपने इर्द-गिर्द
के समाज में कोई यह न कह सके कि इन का अमुक काम सामाजिक
दृष्टि से अनुचित है! अर्थात् विद्रोही बनने की प्रतिज्ञा भूल गई; सुलह
और समझौते का रास्ता स्वीकार कर लिया गया। आगे चलकर 'गुरु'
पद पाने के लिए हाईकोर्ट का भी शरण ली गई।

यह कह देना कि सब ग़लत हुआ, कुछ विशेष काम की बात
नहीं हुई। क्यों यह ग़लती हुई? माया से छूटने के लिए माया के ये
प्रपंच रचे गये, यह सत्य है। कबीरपंथ का नाम तो यह इसलिए आ
गया है कि ये बातें कबीरपंथी साहित्य पढ़ते-पढ़ते मेरे मन में आई हैं;
नहीं तो सभी महापुरुषों के प्रवर्तित मार्गों की यही कहानी है। माया
के जाल छुटाये छूटते नहीं, यह इतिहास की चिरोद्घोषित वार्ता सब
देशों और सब कालों में समान भाव से सत्य रही है।

स्पष्ट ही मालूम होता है कि यह घर जोड़ने की माया बड़ी प्रबल
है और संसार का विरला ही कोई इसका शिकार होने से बच सकता
है। इतनी प्रबल शक्ति के यथार्थ को उलटा नहीं जा सकता। उसको
मानकर ही उसके आकर्षण से बचने की बात सोची जा सकती है। स्वयं
कबीरदास ने न जाने कितनी बार इस प्रबल माया की शक्ति के प्रति
लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है।

ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनिया चुनि चुनि मारे काहु न राखे नेरा हो।
मौनी पीर दिगम्बर मारे ध्यान धरन्ते जोगी हो।
जंगल में के जंगम मारे माया किहहु न भोगी हो।

वेद पढ़न्ते वेदुआ मारे पूजा करते स्वामी हो।
अरथ विचारत पंडित मारे बांधे सकल लगामी हो।
इत्यादि।

मैं ज्यों-ज्यों कबीरपंथी साहित्य का अध्ययन करता गया त्यों-त्यों यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गई कि इर्दगिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बड़ा जबर्दस्त साबित हुआ है। उसने सत्य, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को बुरी तरह दबोच लिया है। केवल कबीरपंथ में ही ऐसा नहीं हुआ है। सब बड़े-बड़े मतों की यही अवस्था है। समाज में मान-प्रतिष्ठा पाने का साधन पैसा है। जब चारों ओर पैसे का राज हो तब उसके आकर्षक को काट सकना कठिन है। पंथ की प्रतिष्ठा के लिए भी पैसा चाहिए। जो लोग इस आकर्षण को नहीं काट सकने वालों की निन्दा करते हैं वे समस्या को बहुत ऊपर-ऊपर से देखते हैं।

मैं बराबर सोचता रहा कि क्या ऐसा कोई उपाय नहीं हो सकता कि समाज में पैसे का राज खतम हो जाय? हमारे समस्त बड़े प्रयत्न इस एक चट्टान से टकरा कर चूर हो जाते हैं। क्या कोई ऐसी व्यवस्था हो सकती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने मतलब भर का पैसा पा जाय और उससे अधिक पा सकने का कोई उपाय ही न हो? यदि ऐसा हो सकता तो वह समूचा बेहूदा साहित्य लिखा ही न जाता जो केवल पन्थों और उनके प्रवर्तकों की महिमा बढ़ाने के उत्साह में बराबर उन बातों को ढँकने का प्रयत्न करता है, जिन्हें पंथ के प्रवर्तक ने कठिन साधना से प्राप्त किया था। पुराने तांत्रिक आचार्यों ने बताया था कि जो राग बंधन के कारण होते हैं, वे ही मुक्ति के भी कारण होते हैं। काम-क्रोध आदि मनोशक्तियाँ, जिन्हें 'शत्रु' कहा जाता है, सुनियंत्रित होकर परम सहायक मित्र बन जाती हैं। क्या कोई ऐसी सामाजिक व्यवस्था नहीं बन सकती, जिसमें 'घर जोड़ने की माया' जीती भी रहे और सत्य के मार्ग में बाधक भी न हो

मेरा मन कहता है कि यह संभव है।

: ५ :

मेरी जन्मभूमि

जिस गाँव में साहित्य चर्चा करने के लिए बैठा हूँ उसका नाम ओझवलिया है। यह मेरी जन्मभूमि है। इस गाँव के एक हिस्से को 'आरतदुवे का छपरा' कहते हैं। यही वस्तुतः मेरी जन्मभूमि है, परन्तु वह हमेशा से इस गाँव का हिस्सा ही रहा है। 'आरतदुबे' मेरे ही पूर्व पुरुष थे। उन्होंने ही इस छोटे हिस्से को बसाया था; पर बसाने के लिए थोड़ी-सी भूमि ओझवलिया गाँव के मालिक ओझा लोगों ने उन्हें माफी में दी थी। अब दोनों ही हिस्से एक हो गए हैं। इस तरफ़ गाँव के नाम के साथ दो शब्द बहुत जुड़े दिखते हैं—'अवली' और 'छपरा'। 'छपरी' की परम्परा पूरब में छपरा शहर तक जाकर समाप्त हो जाती है और 'अवली' ग्रामों की परम्परा पश्चिम में 'बलिया' तक आती है। मेरा गाँव संयोग से छपरा और अवली का योग है। मुझे इन दोनों शब्दों में इस भूभाग का चिरन्तन इतिहास स्पष्ट रूप से समझ में आता है। वस्तुतः बलिया और छपरा नाम के नगरों के मध्यवर्ती भूभाग को गंगा और सरयू जैसी दो महानदियों का कोप बराबर सहते रहना पड़ा है। अधिकांश गाँव सचमुच ही छप्परों के बने हैं, क्योंकि हर साल गंगा की बाढ़ में उनके बह जाने की आशंका रहती है। इस बाढ़ के कारण ही कई-कई गाँव प्रायः एक जगह झुण्ड बाँधकर बसने को बाध्य होते हैं। इन ग्रामों की 'अवली' को कोई भी पर्यवेक्षक आसानी से लक्ष्य कर सकता है। तो इस भूभाग का इतिहास ही निरन्तर बनते और

मिटते रहने का है। इसीलिये यहाँ के निवासियों में एक प्रकार 'कुछ परवा नहीं'—भाव विकसित हो गया है। एक अजीब प्रकार की मस्ती और निर्भीकता इन लोगों के चेहरे पर दिखती है। विपत्ति के थपेड़ों से चेहरे सहज ही नहीं मुरझाते। कठिनाइयों में से रास्ता निकाल लेना इनका स्वभाव हो गया है। इतिहास की यही विरासत इन्हें मिली भी है, नहीं तो गंगाजी के दोनों किनारों के कई मील की दूरी में न तो यहाँ कोई पुरातत्त्व का अवशेष बच पाया है, न साहित्य का इतिहास लिखने वालों को प्रलुब्ध करने लायक कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री। जब मैं अपनी विद्यार्थी-अवस्था में हिन्दी या संस्कृत का इतिहास पढ़ता था तो मैं आश्चर्य और क्षोभ से देखता था कि हमारे इस भूभाग की कोई चर्चा उसमें नहीं है। लेकिन मजेदार बात यह कि इस भूमि ने संस्कृत के इतने विद्वान् पैदा किए हैं कि कई गाँव 'लहरी काशी' (छोटी काशी) होने का दावा करते हैं और ठीक करते हैं। मेरे गाँव से थोड़ी ही दूर पर 'छाता' नाम का एक गाँव है, जिसे यहाँ 'लहरी काशी' कहते हैं। बहुत दिनों से मेरे मन में यह क्षोभ संचित था। मैं सोचता था कि क्या साहित्य में इस विद्वत्प्रसू भूमि की कोई देन नहीं है? अचानक आज साहित्य चर्चा करने का अवसर पाकर मेरे चित्त में वही क्षोभ सावन के मेघ की भाँति घुमड़ पड़ा है। क्या यह सदा का उपेक्षित भूभाग है? बुद्धदेव जहाँ-जहाँ गए थे उन स्थानों का यदि मानचित्र बनाया जाय तो निस्सन्देह उनका पदार्पण इधर हुआ होगा, पर प्रमाण कहाँ है? स्कन्द-गुप्त की विराट वाहिनी भीतरी गाँव होते हुए गई थी। निस्सन्देह उन्होंने इस भूमि पर कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा की होगी, पर सबूत कहाँ है? कुमार-जीव के पिता निस्सन्देह इसी भूभाग के नर-रत्न थे, पर मैं कैसे बताऊँ कि वे किस गाँव के रहने वाले थे! गंगा और सरयू जल सन्निपात से धौत भूमि की शोभा देखने के लिए जब कालि-दास निकले होंगे तो क्या उड़कर चले गए होंगे? निस्सन्देह इन गाँवों में कहीं-न-कहीं ठहरे होंगे। बहुत संभव है कि रघुवंश के महत्त्वपूर्ण

सर्गों का कोई हिस्सा इधर ही लिखा गया हो; परन्तु मेरी बात का विश्वास कौन करेगा ? मैं साहित्य की चर्चा करने का अवसर पाकर असल में उतना प्रसन्न नहीं हूँ जितना होना चाहिए। भारतवर्ष के धारावाहिक साहित्य में हमारे इस भूभाग का क्या महत्त्व होगा भला !

अच्छा समझिए या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकालना समझ सकते हैं। मैं बालू में से भी तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय। और यह बात अगर छिपाऊं भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूँ—"नेह कि गोइ रहै सखि लाज सों ? कैसे बंधे जलज़ाल के बाँधे ?" मेरा विचार यह है कि साहित्य का इतिहास कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे-जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन्त मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है। मेरे गांव में जो जातियाँ बसी हैं वे किसी उजड़े महल या गड़ी हुई ईंटों से कम महत्वपूर्ण तो हैं ही नहीं, अधिक महत्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे से गांव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है। ब्राह्मणों की बात तो बहुत कुछ लोग जानते भी हैं, (यद्यपि कम लोग ही यह जानते हैं कि वे कितना कम जानते हैं !) मेरे गांव में भड़भूजे का पेशा करने वाली 'कान्दू' जाति है, जो संस्कृत 'कान्दविक' शब्द से संबद्ध है। गुप्त सम्राटों ने इन्हें वैश्य की मर्यादा दी थी, ऐसा मैंने किसी प्राचीन लेख में पढ़ा है। आपको एक विनोद की बात बताऊं। एक बड़े अच्छे बंगाली पंडित ने कलाओं के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है। उस पुस्तक में दस-बारह पन्नों में 'कंदु-पक्व' अन्न की कला की विवेचना है। धर्मशास्त्रों के अनुसार कंदु-पक्व अन्न-स्पर्श दोष से दूषित नहीं होता। उक्त बंगाली पंडित ने अनेक कोशों और स्मृतियों के वचन उद्धृत करके यह साबित करना चाहा कि 'कंदु-पक्व' अन्न पावरोटी जैसी कोई चीज होती थी ! अगर वे हमारे गांव में आ गए होते तो उन्हें इतने परिश्रम के बाद

इतनी गलत-सी चीज सिद्ध करने की कोई जरूरत ही नहीं होती। 'कंदु' इन्हीं कान्दुओं के भाड़ का नाम है! कौन नहीं जानता कि भड़भूजे की भुनी हुई सामग्री स्पर्श-दोष से रहित होती है! जिन पंडितजी की बात लिख रहा हूँ उनकी विद्वत्ता और बहुश्रुतता का मैं कायल हूँ और इसलिये मुझे थोड़ा-थोड़ा गर्व होता है कि मेरा गांव इतने बड़े पंडित के ज्ञान में थोड़ा-सा अंश और जोड़ सकता था! फिर हमारे गांव में कलवार या प्राचीन 'कल्यपाल' लोगों की बस्ती है, जो एकदम भूल गए हैं कि उनके पूर्वज कभी राजपूत सैनिक थे और सेना के पिछले हिस्से में रहकर 'कल्यवर्त' या 'कलेऊ' की रक्षा करते थे। न जाने किस जमाने में इन लोगों ने तराजू पकड़ी थी और अब पूरे 'बनिया' हो गए हैं। ये क्या पुरातत्व विभाग के किसी ईंट-पत्थर से कम मूल्यवान् हैं? मेरे गांव में और भी बनिया जाति के लोग हैं। उनकी परम्परा सुनता हूँ तो मुझे रसेल साहब की वह बात याद आए बिना नहीं रहती कि मध्यप्रान्त में एक भी बनिया जाति उन्हें ऐसी नहीं मिली, जिसकी प्राचीन परम्परा किसी-न-किसी राजपूत कुल से सम्बद्ध न हो। मेरे गांव की परम्परा भी उनका समर्थन करती है। एक जाति यहां बसती है—तुरहा। जातियों की तालिका में इनका नाम तो मिल जाता है, पर किसी नृतत्त्व-शास्त्रीय विवेचन में मैंने इनकी चर्चा नहीं पढ़ी। मेरा अनुमान है कि यह जाति आर्यों और गोंड़ों के मिश्रण की एक कड़ी है। नृतत्त्वशास्त्र के अध्येता इनको अपनी अर्थाप्ति का उपयोगी विषय बना सकते हैं। अपने गांव के धोबियों के नृत्यगीत में मुझे कोई बड़ी भूली हुई परम्परा का स्मरण हो आता है। मेरे गांव की सबसे मनोरंजक जाति जुलाहों की है। इनके पुरोहित भी मेरे गांव में हैं। मैंने 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक में जुलाहों के साथ नाथ परम्परा के योग का उल्लेख किया है। अपने गाँव की ही एक मजेदार बात मैं उस पुस्तक में लिखना भूल गया था। जुलाहों के पुरोहित यहाँ 'साईं' कहे जाते हैं। साईं अर्थात् स्वामी। नाथ परम्परा में गुरु को 'नाथ' या 'स्वामी' कहते

थे। 'गोरखबानी' में गोरखनाथ मछन्दरनाथ को बराबर 'साईं' कह कर संबोधन करते हैं। अब वे लोग पक्के मुसलमान हो गए हैं। केवल नाम में अपनी पुरानी स्मृति ढोते आ रहे हैं। हमारे गाँव के शाकद्वीपीय मग ब्राह्मण भी बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जाति के हैं। शकद्वीप सम्भवतः आधुनिक सगडियाना हैं, जहाँ के 'मगी' लोग सारे संसार में तंत्र-मन्त्र के लिए प्रख्यात थे। सुना है, 'ओल्ड टेस्टामेंट' में भी इनकी चर्चा है। अंग्रेज़ों में 'मैजिक' शब्द में भी इन मगों की स्मृति रह गई है। भारतवर्ष में यह जाति ब्राह्मण की ऊँची मर्यादा पा सकी है। और सच पूछिये तो ये लोग जहाँ-जहाँ गये थे वहीं आदर और सम्मान पा सके थे। अब भी ये सुसंस्कृत और चतुर हैं। फिर मेरे गाँव में 'दुसाध' नाम की अंत्यज जाति है। इनके रंगरूप को देख कर कोई नहीं कह सकता कि ये लोग अंत्यज जाति के हैं। अंग्रेज़ लोग जब इस देश में राज्यस्थापन में समर्थ हुए तो उन्हें कुछ अत्यन्त दुर्दान्त जातियों का सामना करना पड़ा था। उत्तर भारत के अहीर और दुसाध तथा बंगाल के डोम बड़े लड़ाके थे और कानून मानने से सदा इनकार करते थे। चतुर अंग्रेज़ों ने इन जातियों से चौकीदारी का काम लेकर इन्हें वश में किया। लोहा से लोहा काटने की नीति में अंग्रेज़ अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता। अहीरों का बहुत कुछ अध्ययन हो चुका है। जाना गया है कि किसी ज़माने में इस दुर्दान्त जाति का राज्य अनेक प्रदेशों में था। बंगाल के डोम सहजिया बौद्ध थे और किसी ज़माने में प्रबल पराक्रान्त राज्यों के अधीश्वर थे। अधिकार वंचित होने पर ही ये लोग दुर्दान्त हो गये थे। दुसाधों के पुरातन इतिहास का कोई पता मुझे नहीं है, पर निस्सन्देह ये भी किसी अधिकार-च्युत बड़ी जाति के भग्नावशेष होंगे। मेरे गाँव के दुसाध बड़े वीर, विनयी और भद्र हैं। ये अपनों को अब दुःशासन वंशज बताने लगे हैं। इनके देवता राह बाबा हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिन्दुओं की ग्रहमंडली में जो राहु देवता हैं वे इन्हीं की देन तो नहीं हैं। इतना तो निश्चित है कि

राहु वैदिक देवता नहीं है। आज कल राहु के नाम पर चलने वाले वैदिक मन्त्र (काण्डात् काण्डं प्ररोहन्ती०) में 'र' 'और' 'ह' अक्षरों के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे राहु से सम्बद्ध माना जा सके। जो हो, यह जाति भारतीय इतिहास की निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण देन है। कैसे कहूँ, मेरी जन्मभूमि के इस छोटे से गाँव में महाकाल देवता के रथचक्र की लीक एक दम नहीं पड़ी है ?

यदि मुझे अपने गाँव की सांस्कृतिक पैमाइश करने की सुविधा प्राप्त हो तो मेरा विश्वास है कि कुछ-न-कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री अवश्य मिलेगी। यहां गाँव में कई कालीजी के स्थान हैं, जो एक चबूतरे पर नीम के पेड़ के नीचे सात मिट्टी के गोल-गोल शंकु-आकृति की पिण्डियां हैं। कहते हैं, यह प्रथा बहुत पुरानी नहीं है। भगवती का शिखाहीन मन्दिर मेरे देखने में यहां एक ही है, जो मेरे गाँव से सटा हुआ है। सबसे आश्चर्यजनक है महावीरजी का (अर्थात् हनुमान जी का) स्थान। इस प्रदेश में ऊपर-ऊपर सजाए हुए क्रम-ह्रस्व तीन चौकोर चबूतरों को ही महावीरजी कहते हैं। इन्हें देख कर बौद्ध स्तूपों की याद बरबस आ जाती है। मनोरंजक बात तो यह है कि इन स्थानों पर महावीरजी की जब जैजैकार की जाती है तो 'महावीर स्वामी' की जै बोली जाती है। मुझे यह 'स्वामी' और स्तूपाकृति स्थान और 'महावीर' शब्द बहुत तरह के अनुमान करने को प्रेरित करते हैं। क्या किसी प्राचीन बौद्ध या जैन या मिश्र परम्परा से इनका कोई सम्बन्ध है ? अपने गाँव की ठाकुरबारी में जो हनुमानजी हैं वे मूर्ति-रूप में हैं, स्तूपरूप में नहीं। मेरे गाँव की देवतामंडली में इधर हाल ही में एक नई देवी का पदार्पण हुआ है। इनका नाम है; 'पिलेक-मैया' अर्थात् प्लेग-माता। इनका स्थान भी बन गया है, पूजा भी होने लगी है और एक भक्त पर उनका आवेश भी होता है। सौ वर्ष बाद यदि कोई कहे कि प्लेग अंग्रेज़ी शब्द है और यह देवी अंग्रेज़ी साहचर्य की देन है तो निष्ठावान हिन्दू शायद कहने वाले का सिर तोड़ देगा! लेकिन मेरे

गाँव की 'पिलेक-मैया' हिन्दुओं के अनेक देवताओं पर ज़बर्दस्त प्रश्न-चिन्ह के रूप में तो रह ही जायगी। जब मैंने अपने एक मित्र को बताया था कि कुरुकुल्ला और उनकी श्रेणी की देवियां तिब्बती परम्परा की देन हैं, यहां तक कि दश महाविद्याओं की 'तारा' और 'छिन्नमस्ता' का भी सम्बन्ध तिब्बत के प्राचीन 'बोन'-धर्म से साबित किया जा सका है तो उन्होंने मुझे 'वज्रनास्तिक' कह कर तिरस्कार किया था। काश मेरे मित्र जानते कि 'वज्र' भी आर्येतर जातियों के संस्रव का फल हो सकता है!

ऐसे ऐतिहासिक अवशेषों के भीतर से यहाँ 'मनुष्य' की दुर्जय विजय-यात्रा चली है। निस्सन्देह साहित्य के इतिहास में इन संस्कृति-चिन्हों की कोई चर्चा न आना क्षोभ का ही विषय है। हमारी भाषा में इनकी स्मृति है, हमारे जीवन में इनका पद-चिह्न है। हमारी चिन्ता-धारा में इनका कोई स्थान होगा ही नहीं, यह कैसे मानलूँ? परन्तु साहित्य का जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह क्या मनुष्य के अप्रत्य-हित विजय-यात्रा का कोई आभास देता है? हम क्यों नहीं अपने को ही पढ़ने का प्रयास करते! आप जब मुझसे अनेक साहित्यिक प्रश्न पूछते हैं तो मेरा चित्त बहुत प्रसन्न नहीं होता। लेकिन आपका एक प्रश्न मुझे थोड़ा उत्फुल्ल कर सका है। आप पूछते हैं कि इस संक्रान्तिकाल में साहित्यिकों का क्या कर्तव्य है? यहाँ बैठ कर मैं उस कर्तव्य को जितना स्पष्ट और अनाविल रूप में देख रहा हूँ उतना अन्यत्र से शायद ही देख सकता।

मैं स्पष्ट ही देख रहा हूँ कि नाना जातियों और समूहों में विभा-जित मनुष्य सिमटता आ रहा है। उसका कोई भी विश्वास और कोई भी नीति-रीति चिरंतन होकर नहीं रह सकी है। उसके न तो मन्दिर ही अविमिश्र हैं, न देवता ही चिरकालिक हैं। मनुष्य किसी दुस्तर तरण के लिए कृतसंकल्प है। जातियों और समूहों के भीतर से उसकी विजय-यात्रा अनाहत गति से बढ़ रही है। वह अपनी इष्ट सिद्धि के

लिए बहुत भटका है। अब भी भटक रहा है, पर खोजने में वह कभी विचलित नहीं हुआ। ये अधभूले नृत्य-गीतों की परम्पराएं उसकी नवग्राहिणी प्रतिभा के चिह्न हैं, ये नवीन देवताओं की कल्पना उसके राह खोजने की निशानी हैं और ये भूली हुई परम्पराएं इस बात का संकेत करती हैं कि वह परम्परा और संस्कृति के नाम पर जमे हुए पुराने किट्टाभ संस्कारों को फेंक देने की योग्यता रखता है। हमारे गाँव की विविध जातियां यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि तथाकथित जाति-प्रथा कोई फौलादी ढांचा नहीं है, उसमें अनेक उतार-चढ़ाव होते रहे हैं और होते रहेंगे। संक्रान्ति काल से आप क्या समझते हैं, यह तो मुझे नहीं मालूम, पर साहित्यिकों का कर्तव्य तो स्पष्ट है। वे कभी किसी प्रथा को चिरंतन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्विजेय न मानें और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकालसिद्ध सत्य न मान लें। इतिहास-विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में जो 'मनुष्यता' है, जो उसे पशु से अलग कर देती है, वही आराध्य है। क्या साहित्य और क्या राजनीति, सब का एकमात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है।[1]

१. श्री बैजनाथसिंह 'विनोद' के नाम लिखा पत्र

: ६ :

सावधानी की आवश्यकता

साहित्य में नित्य नवीन प्रयोग हो रहे हैं। जिस समय हमारा देश स्वाधीन हो रहा है, उस समय इन नवीन प्रयोगों के विषय में कुछ सावधानी बर्तने की आवश्यकता जान पड़ती है। इस समय देश के शिक्षित समझे जानेवाले जन-समुदाय में एक विचित्र प्रकार की संदेह-शीलता और अविश्वास का भाव दिखाई दे रहा है। सैंकड़ों वर्ष की गुलामी से कुचला हुआ मनोभाव उत्तरदायित्व का भार देखकर ही बिदक गया है। मलेरिया का बुखार आदमी को कमज़ोर पाकर बीस वर्ष बाद भी चढ़ दौड़ता है। हमारे भीतर संघर्ष-काल में जितना आत्म-विश्वास था उतना भी नहीं दिखाई देता। शत्रुओं की कूट बुद्धि पर, प्रतिद्वंद्वियों की चालबाज़ियों पर और अपनी मूर्खता पर हमें बहुत ज्यादा विश्वास है और अपनी दृढ़ता पर, अपनी नीति पर और अपने अधिकार पर बहुत कम। इस अवस्था में साहित्य यदि जनता के भीतर आत्मविश्वास और अधिकार चेतना की संजीवनी शक्ति नहीं संचारित करता तो परिणाम बड़े भयंकर होंगे। हमें इस समय कठोर आत्मसंयम, अदम्य इच्छा-शक्ति और दुर्जेय आत्मविकास की ज़रूरत है। हमारे साहित्य में आज ऐसे दृढ़चेता चरित्रों की कमी महसूस हो रही है, जो विपत्तियों की झंझा में पहाड़ के समान अटल बने रहते हैं, जूझने का अवसर पाने पर सौगुना उत्साहित हो जाते हैं और प्रलोभनों के विशाल व्यूह में भी अपने कर्तव्य-पथ से तिलमात्र विचलित नहीं होते। आज हमें ऐसे साहित्य

की आवश्यकता है जो हमारे युवकों में मनुष्यता के लिये बलि होने की उमंग पैदा करे, अन्याय से जूझने का उत्साह पैदा करे और अपने अधिकारों के लिये मिट जाने के लिये अकुंठ साहस का संचार करे।

क्या साहित्यकार अपना कर्तव्य पालन कर रहे हैं? कहना व्यर्थ है कि हिन्दी के साहित्यिक चुप नहीं बैठे हैं। कागज की कमी और छपाई की दिक्कतों के होते हुए भी दर्जनों पत्रिकाएं और पुस्तकें प्रतिमास निकल रही हैं। फिर आज यह शंका क्या उचित है कि साहित्यकार कर्तव्य-पालन में सावधान हैं या नहीं?

हमारे युवा साहित्यकारों में से अधिकांश अपने को 'प्रगतिशील' कहते और समझते हैं। इनकी 'प्रगतिशील' कही जानेवाली रचनाओं में कई श्रेणी की चीजें हैं। यह एक बिलकुल ग़लत धारणा है कि सभी प्रगतिवादी रचनाएं मार्क्सवादी विचार-धारा का समर्थन या प्रचार करती हैं। वस्तुतः कई प्रकार की आधुनिक मनोभावों के प्रचार के उद्देश्य से लिखी गई समस्त रचनाएं 'प्रगतिशील' कही जाने लगी हैं। आज समय आ गया है कि इन रचनाओं का विश्लेषण करके ठीक-ठीक समझ लिया जाय कि 'प्रगतिशील' वस्तुतः कौन-सी हैं और केवल अधकचरे आधुनिक विचारों को हवा में से पकड़कर उनपर से अपना कारबार करनेवाली रचनाएं कौन हैं? बिना किसी झिझक के यहां कह दूं कि मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं हूँ, जिनमें संसार को नये सिरे से उत्तम रूप में ढालने का दृढ़-संकल्प न हो। जो रचना केवल हमारी मानसिक चिन्ताओं का विश्लेषण करने का दावा करके हमें जहां-का-तहां छोड़ देती हैं, उनमें गति ही नहीं है। उन्हें प्रगतिशील तो कहा ही नहीं जा सकता।

इस युग के युवक-चित्त को जिस नई विद्या ने सबसे अधिक प्रभावित किया है वह है मनोविज्ञान और मनो-विश्लेषण शास्त्र। निस्संदेह ये शास्त्र पठनीय हैं। इन्होंने हमारे सामने अपने ही भीतर चलनेवाली अनेक अज्ञात धाराओं से हमारा परिचय कराया है; परन्तु यह बात

सदा ध्यान में रखना चाहिए कि "सब साँच मिलै सो साँच है, ना मिलै सो झूठ" सत्य सार्वदेशिक होता है। मनोविश्लेषण शास्त्र मनुष्य की उद्भावित विचार-निधियों का एक अकिंचन अंश-मात्र है। जीव-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में हमें जो नये तथ्य मालूम हुए हैं उनके साथ इस शास्त्र के अनुसन्धानों का सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सका है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि मानस-विश्लेषण शास्त्र के आचार्यों के प्रचारित तत्त्ववाद में से कुछ विचार इन दिनों वायुमण्डल में व्याप्त हैं। नवीन साहित्यकार उन्हें अनायास पा जाता है; परन्तु उन विचारों को संयमित और नियंत्रित करने वाले प्रतिकूलगामी शास्त्रीय परिणाम उसे इतनी आसानी से नहीं मिलते। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा नवीन साहित्यकार इन विचारों के मायाजाल को आसानी से काट नहीं पाता। वह कुछ इस प्रकार सोचता है: अवचेतन चित्त की शक्तिशाली सत्ता ही हमारे चेतन चित्त के विचारों और कार्यों को रूप दे रही है। हम जो कुछ सोच और समझ रहे हैं वस्तुतः वैसा ही सोचने या समझने का हेतु हमारे अनजान में हमारे ही अवचेतन चित्त में वर्तमान है। और यह जो हम सोच रहे हैं, समझ रहे हैं और सोच-समझकर कर रहे हैं इन बातों का 'अभिमान' करनेवाला हमारा चेतन चित्त कितना नगण्य है। अदृश्य में वर्तमान हमारी अवदमित वासनाओं और प्रसुप्त-कामनाओं के महासमुद्र में यह दृश्य चेतन चित्त बोतल के कार्क के समान उतरा रहा है। अदृश्य महा-समुद्र की प्रत्येक तरंगें उसे अभिभूत कर जाती हैं। हम जिसे तर्कसंगत विचार समझ रहे हैं वह वस्तुतः संगति लगाने का ही प्रकारान्तर है। मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नाम की कोई चीज नहीं है। स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति पुराने दक़ियानूस विचारकों की अर्द्धविकसित बुद्धि की अधकचरी कल्पनामात्र है। कुछ और विश्लेषकों ने आगे बढ़कर कहा है कि जब कोई व्यक्ति जानबूझ कर कोई काम करता है, जिसे वह अपनी इच्छा-शक्ति का कार्य समझता है, तो वस्तुतः वह

इसलिये कि शिशुकाल से ही वह नाना भाव से अपने को असहाय मानता रहता है और इस प्रकार उसके मन में हीनता की गाँठ पैदा हो जाती है। उसी हीनता की क्षतिपूर्ति के उद्देश्य से वह आगे चलकर बड़े बड़े काम करता है। असल में हीनता की भावना जितनी ही तीव्र होती है, भविष्य जीवन में मनुष्य उतना ही कर्मठ होता है! ये हू-ब-हू वही विचार नहीं हैं, जिनका प्रतिपादन फ्रायड या एडलर जैसे आचार्यों ने किया है। ये उन विचारों का अत्यधिक प्रचलित रूप हैं, जिन्हें आज का नया साहित्यकार आसानी से हवा में से पकड़ लेता है।

इन विचारों का बड़ा घातक असर हमारे साहित्य पर हो रहा है। जिसे देखो वही कुछ मनोविश्लेषण के प्रयोग कर रहा है। कुछ लिबिडो, कुछ प्रसुप्त वासना, कुछ अवदमित कामना किस रूप में चेतन दिमाग में रूप-परिग्रह कर रही हैं, यह बताने के उद्देश्य से जो साहित्य लिखा जायगा उसमें वह चरित्रगत दृढ़ता आ ही नहीं सकती जो आज के संकट-काल में हमें धीर और कर्मठ बना सके। यदि मनुष्य कुछ पूर्ववर्ती अज्ञात वासनाओं का ही मूर्त रूप है, यदि अनजान में बंधी हुई हीनता की गांठ ही हमारे चरित्र का निर्माण कर रही है तो फिर दृढ़चित्तत्ता और आत्म-निर्माण का स्थान कहाँ है?

लेकिन केवल इन्हीं विचारों को लेकर साहित्यिक प्रयोग हो रहे हैं, ऐसा कहना अन्याय होगा। एक प्रकार के हमारे युवक साहित्यकार ऐसे भी है जो बड़ी सावधानी से ऐसे चरित्रों का निर्माण कर रहे हैं, जिनमें दुनिया को अपने आदर्श के अनुरूप ढाल देने का संकल्प है। मार्क्सवादी साहित्य कितने भी दुर्धर्ष जड़-विज्ञान के तत्व-वाद पर आधारित क्यों न हो, वह मनुष्य को केवल नियति का गुलाम नहीं मानता। सिद्धान्त रूप में वह चाहे जो भी स्वीकार क्यों न करता हो, साहित्य में वह मनुष्य को दृढ़चित्त बनाने का कार्य करता है। मुझे इस श्रेणी के साहित्य में वह बात सबसे अच्छी लगती है। खेद है कि सभी मार्क्सवादी इस बात में पूरे नहीं

उतरते। कभी-कभी एक ही स्थान पर एक तरफ तो वे ऐसे चरित्र का निर्माण करते हैं जो कठिनाइयों से जूझता है और दूसरे ही क्षण मानस-विश्लेषण करके उसे प्रसुप्त वासनाओं का प्रतिफलन मात्र बना देते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस श्रेणी के साहित्यिक अभी भी अपना कर्तव्य साफ-साफ नहीं समझ रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में जड़-विज्ञान लेकर आई थी; परन्तु उस युग के साहित्य में संसार को आदर्श रूप में गढ़ने की जैसी उत्कट और शक्तिशाली भावना प्रकट हुई उसकी तुलना किसी युग से नहीं की जा सकती। बीसवीं शताब्दी प्राणि-विज्ञान और मनोविज्ञान का युग कहा जाता है। पस्तहिम्मती, पलायन और नियतिदासता को क्या इस युग के साहित्य में बड़ा हो जाना चाहिए था ? युद्धों और राज-नैतिक कचकचाहटों ने इस युग के साहित्यकार को निराशावादी और मनोविश्लेषक बना दिया है। वह देख रहा है कि दुनिया के नख और दन्त चाहे जितने तेज़ हो गए हों उसका मन परिवर्तित नहीं हुआ है। मनुष्य सब मिलाकर आज भी पशु ही बना हुआ है। डारविन ने उन्नी-सवीं शताब्दी में कहा था कि मनुष्य वस्तुतः पशु का ही विकसित रूप है। वर्तमान युग के मनोविज्ञानियों ने आज भुजा उठाकर घोषणा की है कि मनुष्य पशु का विकसित रूप केवल शरीर में है, मन की ओर से वह आज भी प्रायः पशु ही है। वही आदिम मनोवृत्तियां जो चूहे में हैं, बकरी में हैं, बनमानुष में हैं, मनुष्य में भी हैं। उन मनोवृत्तियों में एक-दम परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल रूप बदल गया है। परिस्थिति के कारण जिस प्रकार ऊँट की गर्दन एक प्रकार की बन गई है, हाथी की सूंड दूसरी प्रकार की हो गई है उसी प्रकार बदली हुई परिस्थितियों ने मानवचित्त को कुछ नया रूप दिया है, नहीं तो है वह वही पुरानी चीज़।

प्रश्न यह है कि आज का साहित्यकार क्या इसी प्रकार के विचारों को चुपचाप स्वीकार कर नया-नया प्रयोग करता जायगा ? समूची जाति

का भाग्य अधर में लटका हुआ है, अविश्वास और संशयालुता ने हमारे विचारशील लोगों के चित्त में भय और संदेह को भर दिया है, भीतर और बाहर की विकट समस्याओं के सम्मुखीन होने में देश के समझदार लोग दुविधा का अनुभव कर रहे हैं। हमारे सामने देश को स्वाधीन बनाए रखने की समस्या ही मुख्य नहीं है। स्वाधीनता भी एक साधन है। सारे संसार को अविश्वास और पारस्परिक घृणा और विद्वेष के दलदल से उबारने का हमें अवसर मिलने जा रहा है। हम क्या आज निराश और हतोत्साह होकर यह कार्य कर सकते हैं? मनोविज्ञान, प्राणिविद्या और पदार्थ-विज्ञान का अध्ययन हम अवश्य करें; परन्तु निश्चित समझें कि ये शास्त्र मनुष्य की अद्भुत बुद्धि के कण मात्र हैं। ये ही सब कुछ नहीं हैं। मनुष्य इनसे बड़ा है। ये शास्त्र केवल सामने पड़ी हुई विशाल ज्ञानराशि की ओर संकेत कर रहे हैं। भारतवर्ष के साहित्यकारों को आज सुवर्ण-संयोग प्राप्त है। अगर इस अवसर पर हम चूक गए तो सम्भवतः दुनिया एक नये दलदल में फिर फंस जायगी। यह मत समझिए कि भारतवर्ष अब उपेक्षित और अवमानित बना रहेगा। संसार को नई ज्योति देने की जिम्मेवारी आज हमारे तरुण साहित्यकारों के कंधे पर आ पड़ी है। आज हमें स्मरणीय चरित्रों और अविस्मरणीय आदर्शों का निर्माण करना है। हमारे महान् देश का भविष्य हमारे हाथों में है।

निस्संदेह मनुष्य में पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियां जीवित हैं। इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। थोड़ी-सी भी उत्तेजना पाकर वे झनझना उठती हैं। साहित्यकार को इनकी उत्तेजना जगाने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। अगर इन आदिम मनोवृत्तियों को ही उपजीव्य बनाकर मनुष्य अपना कारबार आरम्भ कर दे तो उसे बहुत आयास नहीं करना पड़ेगा; परन्तु संयम और निष्ठा, धैर्य और दृढ़-चित्तता साधना से प्राप्त होती हैं। उनके लिये श्रम की ज़रूरत होती है। साहित्यकार से मेरा निवेदन है कि इन श्रमसाध्य गुणों को पाने के

लिये समूची मनुष्य-जाति को उद्बुद्ध करे। इस युग-संधिकाल में साहित्यकार को अविचलित चित्त से उन गुणों की महिमा समाज में प्रतिष्ठित करनी है जिन्हें मनुष्य ने वर्षों की साधना और तपस्या से पाया है। जिस स्वाधीनता के लिये हम दीर्घकाल से तड़प रहे थे, वह आ गई है। साहित्यकार ने इसके आवाहन में पूरी शक्ति लगा दी थी। आज उसे अपने को महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। कराची-सम्मेलन में कही हुई अपनी बात को मैं फिर दुहराता हूं, मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती। इस महान् उद्देश्य की यदि हिन्दी पूर्ति कर सके तभी वह उस महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध होगी जो इतिहास-विधाता की ओर से उसे मिला है। मेरे लिये हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य कोई देवप्रतिमा नहीं है, जिसका नाम जपकर और आरती उतारकर हम संतुष्ट हो जायेंगे। हिन्दी भारतवर्ष के हृदय-देश में स्थित करोड़ों नर-नारियों के हृदय और मस्तिष्क को खुराक देने वाली भाषा है। यदि यह काम वह नहीं कर सकती तो श्रद्धा और भक्ति का विषय भी नहीं बनी रह सकती। हिन्दी के ऊपर महान् उत्तरदायित्व की बात जब मैं कहता हूँ तो मेरा मतलब यही होता है। भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो हो और जैसी भी हो; पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा हिन्दी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है, साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटानेवाली भाषा, करोड़ों की आशा-अकांक्षा, अनुराग-विराग, रुदन-हास्य की भाषा। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है करोड़ों के मानसिक स्तर को ऊँचा करना, करोड़ों मनुष्यों को मनुष्य के सुख-दुख के प्रति समवेदनशील बनाना, करोड़ों को अज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त करना। केवल शिक्षित और पण्डित बना देने से यह काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की जो दूसरों के शोषण में अपने स्वार्थ साधन में ही

अपनी चरम सार्थकता समझती हो ! इसीलिये आज जब हमारे सामने गम्भीर साहित्य लिखने का बहाना सा उपस्थित हुआ है, मैं अपने सहकर्मियों से विनयपूर्वक अनुरोध कर रहा हूँ कि वो कुछ भी लिखें उसे अपने महान् उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखें । संसार के अन्यान्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है उसकी प्रतिलिपि और अनुकरण नहीं होना चाहिए । जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है, उसी प्रकार साहित्य और विचार के क्षेत्र में भी अटकल का सहारा लिया है । उसका फल अच्छा नहीं हुआ है । हमें सौभाग्य-वश नये सिरे से सब कुछ करना है । इसीलिये हमारे पाठ्य ग्रन्थों तथा रसात्मक साहित्य की रचना भी किसी संकुचित मत के लिये नहीं होनी चाहिए । समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वञ्चित न हो, इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए । संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मस्तिष्क वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है । उसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है । घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है वह शीघ्र ही पतन के गह्वर में गिर पड़ता है । यही प्रकृति का विधान है । लोभवश, मोह-वश और क्रोधवश जो कर्तव्य निश्चित किया जायगा वह हानिकारक होगा । बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनो-वृत्तियों पर विजय पाई है । वे वृत्तियाँ दबी हैं; किन्तु फिर भी वर्तमान हैं । उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं । प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है और मनुष्यमात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बनाने वाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है । हमारा साहित्य इन बातों पर आधारित होगा तभी वह संसार को नया प्रकाश दे सकेगा ।

एक आदरणीय साहित्यिक ने मुझे अपना यह अनुमान बताया कि

प्रगतिशील समझी जानेवाली नये लेखकों की रचनाओं में पचास फी-सदी से अधिक कहानियों का विषय मानसिक विपथगामिता है। अपने आदरणीय साहित्यिक की बात मैंने ज्यों-की-त्यों स्वीकार नहीं करली। मैंने एक प्रगतिशील पत्र में प्रकाशित कुछ कहानियों की छान-बीन की। मुझे यह घोषणा करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि उसकी अधिकांश प्रकाशित कहानियों से उक्त बात की पुष्टि नहीं होती। परन्तु अपने को 'प्रगतिवादी' कहकर विज्ञापित नहीं करनेवाले पत्रों की कहानियों में यह बात बहुत दूर तक ठीक है। शायद ही ऐसा कोई समझदार आदमी हो जो यह न स्वीकार करता हो कि एक-न-एक प्रकार की मानसिक विपथगामिता हर युग में साहित्य की प्रधान समस्या रही है। परन्तु इन दिनों जो बात चिन्त्य हो उठी है। वह उसका यौन-भावनामूलक ग्रंथगृहीत रूप है। कुछ रचनाओं से यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि लेखक सुनी-सुनाई बातों की नींव पर अपना भवन निर्माण कर रहा है; परन्तु मैं यहां इस बात को व्यर्थ ही बढ़ाना नहीं चाहता। मेरा वक्तव्य यहां सिर्फ इतना ही है कि इन दिनों हमारी प्रधान समस्या व्यक्तिगत यौन-भावनामूलक मानसिक विपथ-गामिता नहीं है। हमारे देश में कुछ खास रीति-रस्म ऐसे हैं जो मनुष्य को सामाजिक रूप में अस्वस्थ-चेता बनाए हुए हैं। इनमें कुछ नितान्त सामयिक हैं, कुछ दीर्घकाल की जमी हुई किट्ट की तरह हमारे मन पर सवार हैं। दोनों का अध्ययन और नियमन होना चाहिए।

हमारे देश में जाति-भेद और छुआछूत की विचित्र प्रथाएं हैं। इसने देश को नाना स्तरों में बांट दिया है। केवल जातिगत हीनता और कुलीनता ही इस देश के समूहजात चित्त को विचित्र और जटिल बनाने के लिए काफी थीं; परन्तु इतना ही भर नहीं है। इन जातियों में पारस्परिक ब्याह-शादी नहीं होती और नानाभांति के ऐति-हासिक और सामाजिक मर्यादाओं के भीतर से विकसित होने के कारण अधिकांश की रीति-नीति, पूजा-उपासना, आचार-विचार, विश्वास

नाना भाव से स्वतन्त्र होने के कारण समाज की जटिलता और भी बढ़ गई है। हमारे पुराने लेखकों ने इस समस्या पर जितना जमकर विचार किया है उतना नये लेखक नहीं कर रहे हैं। क्रान्ति कह देने मात्र से नहीं आती। यदि मानसिक गुत्थियों को सुलझाना ही हमारे नये साहित्यकारों को अभीष्ट है तो इस देश के जनसमूह से बड़ा और मनोरञ्जक प्रयोग क्षेत्र दूसरा नहीं मिलेगा! क्यों नहीं हमारे साहित्यिक इस ओर झुकते? पुरातत्त्व और नृतत्त्व-शास्त्र के अध्येताओं ने जिन तथ्यों का उद्घाटन किया है उनके प्रकाश में क्यों नहीं वे अपने देश की मानसिक गांठों को खोलने का प्रयत्न करते? इस विशाल देश में न तो आदिम मानवीय विश्वासों की ही कमी है, न अत्यन्त आधुनिक जटिलताओं की। साहित्यिक प्रयोग यदि करना ही है तो क्यों नहीं हमारे युवक अपने देश की ओर नजर फिराते? नाना जातियों और उपजातियों से अध्युषित, सभ्यता के लगभग प्रत्येक सीढ़ी पर अवस्थित और फिर भी सबसे विचित्र और सबसे जटिल इस देश की सामाजिक मनोभावना सचमुच साहित्यकार को प्रलुब्ध करनेवाली वस्तु है।

अपने देश के तरुण साहित्यकारों से मेरा अनुरोध है कि वे अपने देश को उसके समस्त गुण-दोषों के साथ देखें और ऐसे साहित्य की सृष्टि करें जो इस जीर्ण देश में ऐसे नवीन अमृत का संचार करे कि वह एक दृढ़चेता व्यक्ति की भांति संसार से घृणा और अन्याय को मिटा देने के लिए उठ खड़ा हो। हमारे युवकों और युवतियों में भविष्य को अपने अनुकूल बना लेने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए। भय कहीं से नहीं है। अपने ऊपर अश्रद्धा ही हमारा सबसे बड़ा भय का हेतु है। आत्म-विश्वास से बढ़कर हमारे पास दूसरा अस्त्र नहीं है और भारतवर्ष यदि आत्मविश्वासी बनता है तो यह कोई निरा स्वप्न नहीं है। सचमुच ही भारतवर्ष की परंपरा महान् है, इसके निवासियों में शौर्य है, यहां की भूमि रत्नप्रसू है, यहां का ज्ञान-विज्ञान अतुलनीय है। केवल इस देशको अपने प्रति आस्थावान बनाना है। तरुण साहित्यकार के लिये आज

स्वर्ण संयोग प्राप्त है। ऐसे ही सुवर्ण अवसर पर रूस के लेखकों ने ऐसा साहित्य पैदा किया था जो संसार में श्रेष्ठ साहित्य के रूप में अनायास ही स्वीकार कर लिया गया। हमारा देश महान् है और हमें महान् संयोग मिल गया है। इस समय दुविधा और झिझक की ज़रूरत नहीं है। दूसरों के दिखाए रास्ते पर चलकर प्रयोग करने की भी जरूरत नहीं है। अपनी आंखों से अपने वृद्ध जर्जर देश को देखना है और दृढ़ चरित्रता के अमृत से सींचकर इसे महत्तर बनाना है। साहित्यिक प्रयोग करते समय हमें बार-बार यह बात सोच लेनी चाहिए।

मुझे रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि हमारे तरुण साहित्यकारों में यह शक्ति है। केवल उन्हें अपने उत्तरदायित्व को समझना है। उन्हें बराबर याद रखना चाहिए कि उनके लिखे प्रत्येक शब्द का मूल्य है। वह शब्द लाख-लाख को प्रभावित करने के उद्देश्य से लिखा गया है। प्रभाव शुभ भी हो सकता है, अशुभ भी हो सकता। शुभ प्रभाव का होना ही वाञ्छनीय है।

: ७ :

क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है ?

हमारे साहित्यिकों की एक भारी विशेषता यह है कि जिसे देखो, वही गम्भीर बना है, गम्भीर तत्ववाद पर बहस कर रहा है और जो कुछ भी वह लिखता है उसके विषय में निश्चित धारणा बनाये बैठा है कि वह एक क्रान्तिकारी लेख है। जब आयेदिन ऐसे ख्यात-अख्यात साहित्यिक मिल जाते हैं जो छूटते ही पूछ बैठते हैं, "आपने मेरी अमुक रचना तो पढ़ी होगी ?" तो उनकी नीरस प्रवृत्ति या विनोद-प्रियता का अभाव बुरी तरह प्रकट हो जाता है। एक फिलासफर ने कहा है कि विनोद का प्रभाव कुछ रासायनिक-सा होता है। आप दुर्दान्त डाकू के दिल में विनोदप्रियता भर दीजिये, वह लोकतंत्र का लीडर हो जायगा; आप समाज-सुधार के उत्साही कार्यकर्ता के हृदय में किसी प्रकार विनोद का इंजेक्शन दे दीजिये, वह अखबार-नवीस हो जायगा। और यद्यपि कठिन है, फिर भी किसी युक्ति से उदीयमान छायावादी कवि की नाड़ी में थोड़ा विनोद भर दीजिये, वह किसी फिल्म कम्पनी का नामी अभिनेता हो जायगा।

एक आधुनिक चीनी फिलासफर को दिनरात यह चिन्ता परेशान करती रही थी कि आखिर प्रजातन्त्र के नेताओं और डिक्टेटरों में अन्तर क्या है। यदि आप सचमुच गंभीरता-पूर्वक छान-बीन करें तो रूजवेल्ट और स्टालिन में कोई मौलिक अन्तर नहीं मिलेगा। या दूर की बात छोड़िये। गान्धी और जिन्ना में कोई अन्तर नहीं है—

जहां तक शक्ति प्रयोग का प्रश्न है। गान्धी की बात भी कांग्रेस के लिए कानून है और जिन्ना की बात भी मुस्लिम-लीग के लिए वेद-वाक्य है। फिर भी एक डेमोक्रेट है और दूसरा डिक्टेटर। क्यों? चीनी फिलासफर ने चार वर्ष की निरन्तर साधना के बाद आविष्कार किया कि डेमोक्रेट हँसना और मुस्कराना जानता है, पर डिक्टेटर हँसने की बात सोचते भी नहीं। उनको आप जहां भी देखें और जब भी देखें, उनकी भृकुटियां तनी हुई हैं, मुट्ठियां बंधी हुई हैं, ललाट कुञ्चित है, अधरोष्ठ दांतों की उपान्त रेखा के समानान्तर जमा हुआ है—मानो ये अभी दुनिया को भस्म कर देना चाहते हैं। अगर इन शक्तिशाली डिक्टेटरों में हँसने का थोड़ा-सा भी माद्दा होता तो दुनिया आज कुछ और होगई होती।

जब-जब मैं कलकत्ते के चिड़ियाघर में गया हूं तब-तब मुझे ऐसा लगा है कि संसार के जीवों में सबसे अधिक गम्भीर और चिन्तामग्न चेहरा उस चिड़ियाघर में रखे हुए एक बनमानुष का है। उसको देखते ही जान पड़ता है कि संसार की समस्त वेदना को वह हस्तामलक की भांति देख रहा है और अपनी सुदूरपातिनी दृष्टि से इन आने-जाने वाले दर्शकों के करुण भविष्य को वह प्रत्यक्ष देख रहा है। मैंने बाद में पढ़ा है कि अफ्रीका के हबशियों में यह विश्वास है कि ये बनमानुष मनुष्य की बोली बोल भी सकते हैं और संसार के रहस्य को भली भांति समझ भी सकते हैं; परन्तु इस डर से बोलते नहीं कि कहीं लोग पकड़ कर उन्हें गुलाम न बनालें। यह बात जब तक मुझे नहीं मालूम थी तब तक मैं समझता था कि यह कलकत्तेवाला बनमानुष ही बहुत गम्भीर और तत्त्व-चिन्तक लगता है। अब मैंने अपनी राय में संशोधन कर लिया है वस्तुतः संसार के सभी बनमानुष गम्भीर और तत्त्वदर्शी दिखाई देते हैं!

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि आदिम युग का मनुष्य—जब कि वह वानरी योनि से मानवी योनि में नया-नया आया था—कुछ इस

कलकतिये बनमानुष की ही भाँति गम्भीर रहा होगा। मगर यह भी कैसे कहूँ? ज़ेब्रा और गैंडा भी मुझे कम गम्भीर नहीं लगते तथा गधे और ऊँट भी इस सूची से अलग नहीं किये जा सकते। फिर भी इनकी तुलना बनमानुष से नहीं की जा सकती। अन्ततः गधे और बनमानुष की गम्भीरता में मौलिक भेद है। गधा उदास होता है और इसीलिए नकारात्मक है; पर बनमानुष सोचता हुआ-सा रहता है और इसीलिए उसकी गम्भीरता में कुछ तत्व है, कुछ सार है। गधे की गंभीरता प्रोलीतारियत की उदासी है और बनमानुष की गंभीरता वर्गवादी मनीषी की। दोनों को एक श्रेणी का नहीं कहा जा सकता।

परन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आदि मानव कुछ गंभीर, कुछ तत्व-चिन्तक और कुछ उदास जरूर था और उसकी उदासी वर्गवादी विचारक की उदासी की जाति की ही रही हो, ऐसा भी हो सकता है। सच पूछिये तो शुरू-शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हँसना-हँसाना तब शुरू हुआ होगा जब उसने कुछ पूंजी इकट्ठी कर ली होगी और संचय के साधन जुटा लिए होंगे। मेरा निश्चित मत है कि हँसाना-हँसना पूँजीवादी मनोवृत्ति की उपज है। इस युग के हिंदी साहित्यिक जो हँसना ना-पसन्द करते हैं उसका कारण शायद यह है कि वे पूँजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति की मन-ही-मन घृणा करने लगे हैं। उनकी युक्ति शायद इस प्रकार है—चूंकि संसार के सभी लोग हंस नहीं सकते, इसीलिए हँसी एक गुनाह है और चूंकि संसार के सभी लोग थोड़ा बहुत रो सकते हैं, इसलिए रोना ही वास्तविक धर्म है। फिर भी अधिकांश साहित्यिक रोते नहीं, केवल रोनी सूरत बनाये-रहते हैं। जिसे थोड़ी-सी भी गणित सिखाई गई हो वह बहुत आसानी से इस आचरण की युक्ति-युक्तता समझ सकता है। मैं समझा रहा हूँ।

यह तो स्वयंसिद्ध बात है कि दुनिया में दुःख सुख की अपेक्षा अधिक है अर्थात् रोदन हास्य से अधिक है। अब सारी दुनिया के रोदन को बराबर-बराबर बांट दीजिये और हंसी को भी बराबर-बराबर

बांट दीजिये। स्पष्ट है कि सबको रोदन हास्य से ज्यादा मिलेगा अब रोदन में से हास्य घटा दीजिये। कुछ रोदन ही बच रहेगा। इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ मिलेगा उससे फूट-फूट कर तो नहीं रोया जा सकता; पर चेहरा जरूर रुंआसा बना रहेगा। यह युक्ति मुझे तो ठीक जँचती है।

लेकिन युक्ति का ठीक जंचना साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में सब समय प्रमाण-स्वरूप ग्रहण नहीं किया जाता। रहस्यवादी आलोचक यह नहीं मानते कि युक्ति और तर्क ही सब कुछ है। मैंने आलोचक शब्द के विशेषण के लिए रहस्यवादी शब्द किसी को चौंका देने की मंशा से व्यवहार नहीं किया है। बहुत परिश्रम के बाद मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दी में वस्तुतः रहस्यवादी कवि हैं ही नहीं। यदि कोई रहस्यवादी कहा जा सकता है तो वह निश्चय ही एक श्रेणी का आलोचक है। जहां तक हिन्दी बोलने वालों का सम्बन्ध है,रहस्यवादी साधु और फकीर तो बहुत हैं; पर वे सब साधना की दुनिया के जीव हैं, साहित्य की दुनिया में रहस्यवादी जीव यदि कोई हैं तो वे निश्चय ही एक तरह के आलोचक हैं। और जब कभी मैं रहस्यवादी शब्द की बात सोचता हूँ तो काशी के भदैनी मुहल्ले की सड़क पर साधना करने वाला रहमत अली फकीर मेरे सामने जरूर आ जाता है। यह फकीर मन वचन और कर्म तीनों से विशुद्ध रहस्यवादी था। 'आवनिकेत' वह जरूर था; पर उसके बड़े-से-बड़े निन्दक को भी यह कहने में ज़रूर संकोच होगा कि वह 'स्थिरमति' भी था।

सो, मैंने एक दिन देखा कि यह रहमत अली शून्य की ओर आँखें उठाये हुए किसी अदृश्य वस्तु पर निरन्तर प्रहार कर रहा है। लात, मुक्के, घूंसे—एक, दो, तीन···लगातार। दर्शक तो वहां बहुत थे, कुछ सहमे हुए, कुछ भक्तियुक्त, कुछ 'योंही से' और कुछ गम्भीर। एकाध मुस्करा भी रहे थे। इन्हें देखकर ही मुझे रहस्यवादी आलोचकों की याद आयी। सारा काण्ड कुछ ऐसा अजीब था कि विनोद की एक

हल्की रेखा के सिवा तत्वज्ञान तक पहुँचा देने का और कोई साधन ही नहीं था। तब से जब मैं देखता हूँ कि कोई शून्य की ओर आँखें उठाये है और किसी अदृश्य वस्तु पर निरन्तर प्रहार कर रहा है तब मुझे रहस्यवाद की याद आये बिना नहीं रहती। सो यह रहस्यवादी दृढ़ युक्ति नहीं माना करता। 'युक्ति' शब्द में ही (युज् + ति) किसी वस्तु से योग का सम्बन्ध है। और यह मान लिया गया है कि योग दृश्य वस्तु से ही स्थापित किया जा सकता है। अदृश्य के साथ योग कैसा?

आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित:—यह क्या कम साधना है! आयेदिन साहित्यिकों के विषय में विचार होता ही रहता है और इन विचारों पर विचार लिखने वाले बुद्धिमान् लोग गंभीर-भाव से सिर हिला कर कहते हैं—आखिर साहित्यिक कहें किसे? बहसें होती हैं, अखबार रंगे जाते हैं, मेरे जैसे आलसी आदमी भी चिन्तित हो जाते हैं और अन्त में सोचता हूँ कि 'साहित्यिक' तो साहित्य के सम्बन्धी को ही कहते हैं न? सो सम्बन्ध तो कई तरह के हैं। बादनारायण एक है। आपके घर अगर बेर के फल हैं, मेरे घर बेर के पेड़, तो इस संबंध को पुराने पण्डित 'बादनारायण' सम्बन्ध कहेंगे। साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले जीव पांच प्रकार के हैं—लेखक, पाठक, सम्पादक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़नेवाला आलोचना नहीं करता, आलोचना करनेवाला पढ़ता नहीं—यही तो उचित नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी, या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी और इत्यादि इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाय। इसीलिए जब एक लेखक दूसरे लेखक से पूछता है कि आपने मेरी अमुक रचना पढ़ी है तब जी में आता है कि कह दूं, "डाक्टर के पास जाओ। तुम्हारे दिमाग में कुछ दोष है;" पर डाक्टर क्या करेगा? विनोद का इंजेक्शन किसी फैक्टरी ने अभी

तक तैयार नहीं किया। इसीलिए मुस्कराकर चुप लगा जाता हूँ। मेरे एक होमियोपैथ मित्र का दृढ़ मत है कि विनोद की कमी दूर करने के लिए कोई इंजेक्शन तैयार किया जा सकता है। वे इस बात का प्रयत्न भी कर रहे हैं कि किसी हंसोड़ की छाया किसी तरह अलकोहल में घुला कर उस पर से विनोद की दवा तैयार करें और चिकित्सा की और साहित्य की दुनिया में एक ही साथ शान्ति कर दें। पर वह अभी प्रयोगावस्था में ही हैं। तब तक मुझे भी सब सहना पड़ेगा और सहे भी जा रहा हूँ।

: ८ :

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली

साधारणतः भारतवर्ष की पुरानी शिक्षा-प्रणाली की बात उठते ही गुरुकुल प्रणाली याद आजाती है। कभी यह भी प्रश्न उठता है कि यह गुरुकुल प्रणाली केवल आदर्श के रूप में स्वीकृत थी या व्यवहार में भी ऐसी ही थी? वस्तुतः हमारे देश का इतिहास बहुत विशाल है और उसमें जीवन के इतने क्षेत्रों और इतनी परिस्थितियों का वैचित्र्य भरा पड़ा है कि किसी एक प्रणाली को भारतीय प्रणाली कहना उचित नहीं है। भारतीय मनीषियों ने जीवन की अनेक समस्याओं को अनेक प्रकार की परिस्थितियों में देखा था और यथा-अवसर उनके समाधान का नया रास्ता सोचा था। सब समय ये रास्ते एक ही समान नहीं थे और न सब परिस्थितियों में सोचे हुए समाधान अच्छे ही थे। आज परिस्थिति बहुत बदल गई है। हमारे सामने शिक्षा और ज्ञान के प्रसार के लिए नये और शक्तिशाली साधन भी हैं और हमारे मार्ग में अननुभूत नई बाधाएं भी हैं। हमारे पूर्वजों ने भी अननुभूत परिस्थितियों का सामना किया है और हमें भी करना है। हमारे दीर्घ इतिहास के सबसे कठिन समय में भी हमने धैर्य नहीं खोया है। आज भी नहीं खोना चाहिए।

भारतवर्ष के सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य में ही ब्राह्मण और विद्या का संबंध बहुत घनिष्ट पाया जाता है। जाति-व्यवस्था जैसी इस समय है वैसी ही बहुत प्राचीन काल में नहीं रही होगी; परन्तु ब्राह्मण बहुत

कुछ एक जाति के रूप में ही रहा होगा, इसका प्रमाण पुराने साहित्य से ही मिल जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराने जमाने से ही भारतवर्ष में विद्या और कला के दो अलग-अलग क्षेत्र स्वीकार कर लिये गये थे। वेदों और ब्रह्म-विद्या का अध्ययन-अध्यापन 'विद्या' या ज्ञान के रूप में था और लिखना-पढ़ना, हिसाब लगाना तथा जीवन-यात्रा में उपयोगी अन्यान्य बातें 'कला' का विषय समझी जाती रहीं। बहुत पहले से ही 'शिक्षा' एक विशेष वेदांग का नाम हो गया था और इसीलिए लिखना-पढ़ना, हिसाब-किताब रखना, विविध भाषाओं और कौशलों की जानकारी 'कला' नाम से चलने लगी थी। विद्या का क्षेत्र बहुत पहले से ब्राह्मण के हाथ में रहा और 'कला' का क्षेत्र क्षत्रियों, राजकुमारों और राजकुमारियों तथा वैश्यों के लिए नियत था। भारतवर्ष के दीर्घ इतिहास में यह नियम हमेशा बना रहा होगा, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वस्तुतः इस प्रकार की स्थिति एक खास अवस्था में रही होगी। पुराने साहित्य में अनेक उदाहरण हैं, जहाँ ब्राह्मण क्षत्रियों से ब्रह्मविद्या पढ़ते थे, शतपथ ब्राह्मण (११-६-२१-५) से पता चलता है कि याज्ञवल्क्य ने जनक से विद्या सीखी थी। काशी के राजा अजात शत्रु से बालाकि गार्ग्य ने विद्या सीखी थी। यह बात बृहदारण्यक और कौशीतकी उपनिषदों से मालूम होती है। छान्दोग्य से जान पड़ता है कि श्वेतकेतु आरुणेयने प्रवाहण जैबाल से ब्रह्मविद्या सीखी थी। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। डायसन जैसे कुछ चोटी के यूरोपियन विचारक तो इन प्रसंगों से यहां तक अनुमान करते हैं कि ब्रह्मविद्या के मूल प्रचारक वस्तुतः क्षत्रिय ही थे। यह अनुमान कुछ अधिक व्याप्तिमय जान पड़ता है; परन्तु यह सत्य है कि कर्मकाण्ड के उग्र और मृदु विरोधियों में क्षत्रियों की संख्या बहुत अधिक थी और जिन महान् ज्ञानी नेताओं को भारतवर्ष आज भी याद किया करता है; उन में क्षत्रियों की संख्या बहुत बड़ी है। जनक, श्रीकृष्ण, भीष्म, बुद्ध, महावीर—सभी क्षत्रिय थे। महाभारत से तो अनेक शूद्र कुलोत्पन्न ज्ञानी

गुरुओं का पता चलता है। मिथिला में एक धर्मनिष्ठ व्याध परम ज्ञानी थे। तपस्वी ब्राह्मण कौशिकने उनसे ज्ञान पाया था (वन० २०६ अ०) शूद्रागर्भजात विदुर बड़े ज्ञानी थे। सूत जाति के लोमहर्षण, संजय और सौति धर्म-प्रचारक थे। सौति ने तो महाभारत का ही प्रचार किया था। परन्तु सम्पूर्ण हिंदू शास्त्रों में प्रधानतः ब्राह्मण ही गुरु रूप में स्वीकृत पाये जाते हैं।

यद्यपि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की अपनी विशेषता है तथापि संसार भरमें आदिम युग में खास-खास कौशल वर्ग-विशेष में ही प्रचलित पाये जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि साधारणतः पिता से विद्या सीखने की प्रथा हुआ करती थी। इसीलिए विशेष विद्याएं विशेष विशेष कुलों में ही सीमाबद्ध रह जाती थीं। वेदों से ही पता चलता है कि ब्रह्मविद्या और कर्मकाण्ड आदि विद्याएं वंश-परंपरा से सीखी जाती थीं। बाद में तो इस प्रकार की भी व्यवस्था मिलती है कि जिसके घरमें वेद और वेदों की परम्परा तीन पुश्त तक छिन्न हो उसे दुर्ब्राह्मण समझना चाहिये (बौधायन गृह्यपरिभाषा १–१०–५–६)। परन्तु नाना कारणों से पितृ परंपरा से शिक्षा प्राप्ति का क्रम चल नहीं पाता। समाज में जैसे-जैसे धनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई और राजा और सेठ प्रमुख होते गए वैसे-वैसे जानकारियों से द्रव्य उपार्जन की आवश्यकता और प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। विद्या सिखाने के लिये भी धन मिलने लगा और धन की इस वितरण-व्यवस्था के कारण ही विद्या वंश के बाहर जाने लगी। ब्रह्मविद्या भी वंशपरम्परा तक सीमित नहीं रह सकी। महाभारत में दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है। एक प्रकार के अध्यापक तो अपरिग्रही होते थे। उनके पास विद्यार्थी जाते थे। भिक्षा मांगकर गुरु के परिवार का और अपना खर्च चलाते थे और गुरु के घर का सब कामकाज करते थे। कभी-कभी तो गुरु लोग विद्यार्थियों से बहुत काम लेते थे। इसकी प्रतिक्रिया के भी उदाहरण महाभारत में मिल जाते हैं। अपने गुरु वेदाचार्य के पास रहते समय

उत्तङ्क को अनेक दुःखपूर्ण कार्य करने पड़े थे। जब स्वयं उत्तङ्क आचार्य हुये तो उन्हें पुरानी बातें याद थीं और उन्होंने अपने विद्यार्थियों से काम लेना बन्द कर दिया (आदि ३।८१), परन्तु सब मिलाकर गुरु का अपार प्रेम ही अपने शिष्यों पर प्रकट होता है। दूसरे प्रकार के ऐसे अध्यापक थे, जिन्हें राजा लोग अपने घर पर वृत्ति देकर नियुक्त कर लेते थे। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ऐसे ही अध्यापक थे। द्रौपदी और उत्तरा की कथाओं से पता चलता है कि राजकुमारियों के लिए इसी प्रकार वृत्तिभोजी अध्यापक रखे जाते होंगे। बौद्धयुग में भी यह प्रथा पाई जाती है। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल 'कला' सिखाने के लिए ही घर पर अध्यापक नियुक्त किये जाते थे। ब्रह्मविद्या सिखाने के लिए भी अध्यापक बुलाकर पास रखने के उदाहरण मिलते हैं। राजर्षि जनक ने आचार्य पंचशिख को चार वर्ष तक घर पर रखा था। सम्भवतः उन्होंने कोई वृत्ति स्वीकार नहीं की थी।

ब्राह्मण के लिए आदर्श यह था कि वह अत्यन्त निरीह भाव से गरीबी की जिंदगी में रहे; परन्तु ऊँचा-से-ऊँचा ज्ञान और चरित्रबल रखे। फिर भी उसकी वृत्ति की कोई-न-कोई व्यवस्था रहती ही होगी। प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन ये तीन मार्ग थे, जिससे ब्राह्मण जीविका अर्जन कर सकता था। एक बार ऐसी भी अवस्था अवश्य आई थी जब याजन (यज्ञ कराना) और अध्यापन (पढ़ाना) बहुत अधिक अर्थकर मार्ग नहीं रह गये थे। संभवतः उसी समय दान लेने को (प्रतिग्रह को) सर्वोत्तम ब्राह्मण वृत्ति मान लिया गया था। स्मृतिचंद्रिका में यम का एक वचन है, जिसमें कहा गया है—"प्रतिग्रहाध्यापन याजनानां प्रतिग्रहं श्रेष्ठतमं वदन्ति" अर्थात् प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन इन तीनों में प्रतिग्रह ही सर्वोत्तम वृत्ति है। अनुमान किया जा सकता है कि जिन दिनों आर्यावर्त पर यवनों, ऋचीकों, तुषारों, हूणों और शकों के बार-बार आक्रमण हो रहे थे उन दिनों याजन और अध्यापन कार्य बन्द हो गये होंगे। उस समय प्रतिग्रह को श्रेष्ठ कह कर पंडितों की

परम्परा बचा रखने की व्यवस्था की गई होगी।

बौद्धयुग में राजकुमारों और राजकुमारियों के लिए वृत्तिभोगी शिक्षकों के रखने की प्रथा प्रचलित थी। ललितविस्तर के अनुसार कुमार सिद्धार्थ को ८६ कलाएँ सिखायी गईं थीं। इनमें लिखना, पढ़ना, हिसाब-किताब भी हैं; उचकना, कूदना, तलवार चलाना, घोड़े पर सवारी करना आदि भी हैं; पोथी लिखना, चित्रकारी करना, गाना-नाचना आदि भी हैं; वस्त्रों और मणियों का रंगना, दवा-दारू, तीतर-बटेर, हाथी-घोड़े सबकी जानकारी भी हैं और वेद, शास्त्र, ज्योतिष, राजनीति, पक्षिविद्या आदि भी हैं। इन ८६ कलाओं के अतिरिक्त ६४ कामकलाएँ भी सिद्धार्थ को सिखायी गई थीं। राजकुमारों ने इन विद्याओं में से अधिकांश को घर पर ही सीखा था। गणिकाओं को भी नाना प्रकार की कलाएं सीखनी पड़ती थीं। यशोधरा को 'शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव' कहा गया है। वस्तुतः जिन विद्याओं को 'कामकला' कहा जाता था उनमें भी अनेक उपयोगी विद्याएं थीं। यह भी मालूम होता है कि स्त्रियों के सीखने के लिये कलाएं और थीं और पुरुषों के लिए और तरह की। वात्स्यायन की बतायी हुई कलाओं में एक-तिहाई के करीब तो विशुद्ध साहित्यिक हैं। कुछ ऐसी हैं जो प्रेमियों के मन-बहलाव के साधन हैं, कुछ ऐसी भी हैं जो प्रात्यहिक जीवन में काम आ सकती हैं। रूप्य-रत्न-परीक्षा, वास्तु-विद्या या गृह-निर्माणकला, कीमती पत्थरों का रंगना, वृक्षायुर्वेद या पेड़-पौधों की जानकारी आदि कलाएं उपयोगी भी थीं और उस युग की समृद्धि के अनुकूल भी। इस युग में बड़े-बड़े नगर रहे होंगे और नगर के लोग गांव के लोगों से बहुत भिन्न तरह का जीवन बिताते होंगे। उनके लिए शिक्षा की विधियां भी अलग तरह की होंगी। कामसूत्र और उसी प्रकार की अन्य पुस्तकों से इसका यथेष्ट आभास मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि इस समय केवल गुरु से ही विद्या सीखना आवश्यक नहीं रह गया था। सरस्वती-मन्दिरों, समाजों, कविसम्मेलनों, नागरिक गोष्ठियों आदि में नाना प्रकार से शास्त्र-चर्चा होती थी

और बहुत सी बातें अनायास सीख ली जा सकती थीं। पुस्तकों से भी विद्या प्रचार होता होगा; नहीं तो पुस्तक लिखना परिश्रम-साध्य कला नहीं मानी जाती। दूसरी तरफ महाभारत और पुराणों से स्पष्ट मालूम होता है कि यज्ञों, मेलों, तीर्थों और राजसभा द्वारा आयोजित शास्त्रों से भी जनता को ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता रहता था।

यद्यपि नाना भाव से समाज और राज्य की ओर से इन ज्ञान प्रचारकों की सहायता की जाती थी तथापि कला से या विद्या से वृत्ति चलाना अच्छा नहीं समझा जाता था। गरीब नागरिक जब 'कला' से वृत्ति पैदा करने लगते थे तो ऊँची मर्यादा से भ्रष्ट मान लिये जाते थे। शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में वसन्तसेना नामक गणिका ने एक संवाहक का परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की कि तुमने तो अच्छी कला सीखी है। संवाहक ने लजाकर उत्तर दिया कि क्या बताऊं आर्यें, 'कला' जान कर ही सीखी थी; पर अब तो यह 'जीविका' बन गई है! निश्चय ही राजकुमारों, राजकुमारियों तथा अन्य समृद्ध लोगों के घर कलाओं के जो शिक्षक नियुक्त होते होंगे वे ब्राह्मण ही नहीं होते होंगे। उन दिनों कलाके नाम पर ऐसी अनेक उपयोगी विद्याएं प्रचलित थीं जिन्हें ब्राह्मण लोग अच्छी वृत्ति नहीं मानते थे।

इस प्रकार हमारे सुदीर्घ इतिहास में नाना भाव से शिक्षण देने के उदाहरण पाये जा सकते हैं। ये सब भारतीय प्रथाएं हैं, यद्यपि इनमें देशकाल पात्र के अनुसार किसी को कम, किसी को ज्यादा महत्त्व प्राप्त होता रहा है। इन सारी प्रथाओं के भीतर एक बात सर्वत्र सामान्य रूप से पाई जाती है। वह है गुरु का प्राधान्य। भारतीय मनीषाने अनेक प्रयोगों के भीतर एक बात को सदा मुख्य स्थान दिया है। शिक्षा का मुख्य साधन उत्तम गुरु है। कोई निश्चित प्रणाली या योजना उतने महत्त्व की वस्तु नहीं है, जितना उदार, निस्पृह और प्रेमी गुरु। दूसरी बात जो अत्यन्त स्पष्ट है वह यह है कि बदली हुई अवस्था के साथ सदा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उपलब्ध साधनों का—

यज्ञों का, तीर्थों का, मेलों का, गोष्ठियों का, समाजों का यथेच्छ उपयोग किया गया है। विद्या जीवन से विच्छिन्न कभी नहीं की गई है। पुस्तकों का सहारा लेने में भी नहीं हिचका गया है; किन्तु सर्वत्र और सर्वदा 'गुरु' का आदर्श वही रहा है—निःस्पृह, उदार, प्रेमी और चरित्रवान्।

मध्य युग में भी बदली हुई परिस्थियों के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया था। पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षों से मार्ग में बाधा पड़ी है। परिस्थिति के साथ भारतीय मनीषा को निबटने का मौक़ा नहीं दिया गया। विदेशी विद्वानों ने अपने लाभालाभ को सामने रख कर इस देश के लिए एक योजना बनाई और उस योजना के सांचे में आदमी ढाले जाने लगे। यही काल क्षेपक का काल है। इसके पहले यद्यपि भारतीय विद्या नाना कारणों से म्लान हो आई थी, फिर भी उसने अपनी शिक्षा-प्रणाली को एक ढंग पर लाने का प्रयत्न किया था। सन् १८१९ के आसपास वार्ड नामक अंग्रेज ने भारतवर्ष के नाना स्थानों की अवस्था देखकर 'हिन्दूज़' नामक एक पुस्तक लिखी थी। काशी में उसने अनेक पाठशालाएं देखी थीं। इनमें विद्यार्थियों की अधिक-से-अधिक संख्या २९ और कम से कम १० थी। प्रत्येक पाठशाला में एक गुरु होते थे। उनकी वृत्ति साधारणतः मठों और मंदिरों से बंधी होती थी। वार्डने इन पंडितों के अध्याप्य विषयों की भी सूची दी है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों शिक्षण-व्यवस्था का भार मठों और मंदिरोंने संभाल लिया था; लेकिन सरकारी व्यवस्था ने इस व्यवस्था को अधिक स्वस्थ और सबल होने में बाधा पहुंचाई और मंदिरों और मठों से शिक्षा का जो योग था वह कट गया। अब समय आया है कि बाहरी हस्तक्षेप की उपेक्षा करके हम संपूर्ण उपलब्ध साधनों का उपयोग करके बदली हुई अवस्था के साथ अपनी शिक्षा-प्रणाली का सामंजस्य स्थापित करें। हमें पुराने साहित्य में इतने प्रकार के प्रयोग मिलते हैं कि किसी विशेष प्रथा को अपनी राष्ट्रीय प्रथा

मानने का बंधन स्वीकार करने की ज़रूरत नहीं है। केवल एक ही बात हमारी राष्ट्रीय परंपरा की देन है और हमारे स्वभाव संस्कारों से अविच्छेद्य रूप में संबद्ध है—'गुरु' का प्राधान्य। हमें बँधी योजनाओं और प्रणालियों पर उतना ज़ोर नहीं देना चाहिये जितना आदर्श गुरु की खोज पर। योजनाओं के सांचे में मनुष्य को नहीं ढालना है। मनुष्य के आदर्श पर योजनाओं को मोड़ना है। इसी एक अर्थ में भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को 'गुरुकुल' प्रणाली कहा जा सकता है; क्योंकि इस व्यवस्था के केंद्र में 'गुरु' का रहना आवश्यक है।

: ९ :

भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या

संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। 'धर्म' के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सब से सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है। सच पूछा जाय तो यह समस्याओं का समाधान है, उसकी अपनी समस्या कुछ भी नहीं है; परन्तु नाना कारणों से सारा भारतीय जनसमूह उस बड़े उपलब्ध सत्य को आत्मसात् नहीं कर सका है। क्यों ऐसा नहीं हो सका और क्या करने से भारतीय संस्कृति—अर्थात् भारतीय श्रेष्ठ व्यक्तियों का सर्वोत्तम—सारी जनता की अपनी चीज़ बन सकती है, यही समस्या है।

भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। इस इतिहास का जितना अंश जाना जा सका है उसकी अपेक्षा जितना नहीं जाना जा सका वह और भी पुराना और महत्वपूर्ण है। न जाने किस अज्ञात काल से नाना जातियाँ आ-आ कर इस देश में बसती रही हैं और इसकी साधना को नाना भाव से मोड़ती रही हैं, नया रूप देती रही हैं और समृद्ध करती रही हैं। इस देश का सब से पुराना उपलब्ध साहित्य आर्यों का है। इन्हीं आर्यों के धर्म और विश्वास नाना अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में बनते-बदलते अब तक इस देश की अधिकांश जनता के निजी धर्म और विश्वास बने हुए हैं।

परन्तु आर्यों का साहित्य कितना भी पुराना और विशाल क्यों न हो, भारतवर्ष के समूचे जनसमूह के विकास के अध्ययन के लिये न तो वह पर्याप्त ही है और न अविसंवादी ही। इस देश में बहुत-सी आर्येतर जातियाँ अत्यन्त सभ्य और संस्कृत जीवन व्यतीत करती थीं; बहुत-सी ऐसी भी थीं जिनके आचार-विचार में जंगलीपन का प्राधान्य था। संघर्ष में पड़कर आर्यों को दोनों प्रकार की जातियों से प्रभावित होना पड़ा। उनके साहित्य, शिल्प और आचार-विचार में ये प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट हैं। आर्यों के पश्चात् भी अनेक जातियाँ यहां आई हैं। कुछ ने आर्यों के धर्म-विश्वास को कुछ अंश में स्वीकार किया है, कुछ ने दूर तक उसे प्रभावित किया और कुछ ऐसी भी आई हैं जो आर्यों के साथ एकदम नहीं मिल सकी हैं, फिर भी एक जगह रहने के कारण परस्पर प्रभावित हुई हैं। इन्हीं नाना जातियों का मिलनक्षेत्र यह भारतवर्ष है। इन मनुष्यों को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करना ही हमारी असली समस्या है। नाना आकरों से अलग-अलग समय पर आते रहने के कारण इस विशाल जनसमूह का ऐतिहासिक विकास एक समान नहीं हुआ है, इनके मिलने की भूमिका भी सर्वत्र प्रशस्त नहीं बन सकी है। इसलिए कोई भी नया कार्यक्रम सबको एक ही तरह से प्रभावित नहीं कर पाता, जिसके परिणामस्वरूप संघर्ष होता रहता है। यह संघर्ष बहुत बार चिन्ता और निराशा का कारण हो जाता है। वस्तुतः यदि हम समूची जनता को ठीक-ठीक समझें तो निराशा या दुश्चिन्ता का कोई कारण नहीं रहेगा। किसी-किसी क्षेत्र में सहानुभूति और धैर्य की आवश्यकता होगी और किसी-किसी में समय की आवश्यकता अनुभूत होगी। इतिहास-विधाता को किसी काम में जल्दी नहीं होती। उनका अपना कार्यक्रम सब समय अल्प शक्तिमान मनुष्य के सोचे कार्यक्रम के अनुकूल ही नहीं पड़ता। भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि बहुत-सी ऐसी सांस्कृतिक उलझनें केवल 'समय' के मरहम से ही सुलझ गई हैं, जो किसी समय दुःसमाधेय मानी गई

होंगी। आर्यों और द्रविड़ों की सभ्यताओं का संघर्ष और बाद में समन्वय एक अचिन्तनीय ऐतिहासिक सत्य है। महाभारत और पुराणों के अध्ययन से आर्यों और नागों के क्रान्तिकर संघर्ष का पता चलता है, परन्तु महाकाल की छाया ने उस संघर्ष को स्मृति-पथ से बहुत दूर हटा दिया है। आगे चलकर इन नागों की अनेक रीति-नीतियाँ आर्य-विश्वास का अंग बन गईं। सिंदूर नाग-चूर्ण है। आर्य स्त्रियों ने इसे नाग-जाति की आचार-पद्धति से ग्रहण किया था, परन्तु आज वह हिंदू-विवाह का अविच्छेद्य अंग हो गया है। केवल आर्यों और द्रविड़ों का संघर्ष ही अन्त तक सुखकर फलशाली हुआ हो, ऐसा नहीं है। आर्यों और मंगोलों, शकों और द्रविड़ों के संघर्ष भी समान भाव से समन्वय के सुनहरे फल में परिणत हुए हैं। मनुष्य युक्ति तर्क मानकर चलने वाला प्राणी है। छोटी-छोटी बातों को लेकर वह दीर्घकाल तक लड़ता नहीं रह सकता।

मुसलमानों के आने के पहले इस देश में नाना विश्वासों और आचार-विचारों के भेद से नाना प्रकार के धर्ममत प्रचलित थे। परन्तु जीवन के प्रति उनकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार की एकरूपता थी। इस एकरुपता के कारण ही नाना मतों के मानने वाले, नाना स्तरों पर खड़े हुए, नाना मर्यादाओं में बंधे हुए अनेक जन-वर्ग एक सामान्य नाम से पुकारे जाने लगे। यह नाम था 'हिन्दू'। हिन्दू अर्थात् भारतीय। मध्य युग में भारतीय जनसमूह दो मोटे विभागों में बँट गया—हिन्दू और मुसलमान। इस विभाग का कारण जीवन के प्रति दृष्टिकोण की विभिन्नता थी। हिन्दू कहे जाने वाले जनसमूह में अनेक स्तर-भेद थे। इस समूचे जनसमूह का अध्ययन करने के लिये पंडितों ने नाना भाव से इसका वर्गीकरण किया है। अत्यन्त सहज और लोकप्रिय वर्गीकरण रिज़ली का है। उन्होंने इस समूचे जनसमूह को सात भागों में इस प्रकार बाँटा था—

(१) कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जो किसी कबीले का परिवर्तित रूप

हैं। आभीर (परवर्ती काल के 'अहीर') एक विशेष मानव-श्रेणी (क़बीला) थी, जो घूमती-घामती इस देश में पहुँची और यहाँ आकर विशाल हिन्दू-समाज की एक जाति बन गई। इस प्रकार की जातियों की विशेषता यह है कि वे अपने अन्दरूनी मामलों में विशेष प्रकार के सामाजिक नियम और रीति-नीति का पालन करती हैं। केवल आंशिक रूप में ब्राह्मण-श्रेष्ठता स्वीकार कर लेती हैं। विवाह, श्राद्ध आदि के मौक़ों पर ये ब्राह्मणों को बुलाती हैं, परन्तु कभी-कभी इतना भी नहीं होता। डोम, दुसाध, भूमिज आदि जातियों ने ब्राह्मण-श्रेष्ठता तो स्वीकार कर ली है, पर शायद ही उनके किसी अनुष्ठान में ब्राह्मण बुलाये जाते हों। (२) कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो खास प्रकार के पेशे के कारण एक विशेष श्रेणी की मान ली गई हैं। चमार, लुहार, बढ़ई आदि जातियाँ पेशों के कारण बनी हैं। कभी-कभी इन जातियों के इतिहास से विचित्र सामाजिक उथल-पुथल का पता चलता है। सराक जाति कपड़ा बुनने के पेशे से बनी है पर वे वस्तुतः जैन श्रावकों के परिवर्तित रूप हैं। पटवेगर जाति अपना ब्राह्मणत्व सिद्ध करती हैं। मध्य प्रदेश में जो जातियां पेशे के कारण बनिया कही जाती हैं, उनका इतिहास खोजने पर रसेल को मालूम हुआ था कि वे सभी मूलतः राजपूत जातियाँ हैं। पेशे के हिसाब से वस्तुतः सारी हिन्दू जाति बँटी हुई है। कितनी ही ब्राह्मण जातियाँ खेती का पेशा स्वीकार करने के कारण मर्यादा-भ्रष्ट मान ली गई हैं। (३) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो मूलतः कोई धार्मिक संप्रदाय थीं। उत्तर भारत के अतीथ, बंगाल के युगी और बोष्टम (वैष्णव) तथा दक्षिण भारत की अनेक जातियाँ ऐसी ही हैं। (४) दो जातियों के मिश्रण से अनेक जातियाँ बनी हैं। (५) कुछ ऐसी जातियाँ हैं, जिन्हें रिज़ली ने राष्ट्रीय जातियाँ (नेशनल कास्ट्स) बताया है। नेवार ऐसी ही जाति हैं। (६) अपने मूल स्थान से दूर जा पड़ने के कारण कितनी ही जातियाँ नवीन जाति बन गई हैं। खोज से अनुमान किया गया है कि गुजरात के नागर ब्राह्मण

और बंगाल के कायस्थों का मूल शायद एक ही है। (७) फिर ऐसी भी जातियाँ हैं, जो रीति-नीति का ठीक पालन न करने के कारण एक विशेष जाति से अलग कर दी गई हैं और अपने को नई जाति ही बताने लगी हैं। कभी-कभी विधवा-विवाह के प्रश्न पर एक जाति की दो शाखाएं बन गई हैं। विधवा-विवाह करने वाली जाति हीन मान ली जाती है। इस प्रकार इस देश का हिन्दू जनसमूह नाना स्तरों में विभाजित है। इन विभागों को दृढ़ करने के लिये ऐसे अनेक कठोर नियम बनाये गये हैं, जो दुर्विलंध्य हैं। छुआछूत, अन्तर्विवाह, हुक्का-पानी आदि बातें इन जातियों के परस्पर सांकर्य में बाधा भी देती हैं और इनकी सामाजिक मर्यादा भी बताती हैं। पुराना साहित्य और इतिहास साक्षी हैं कि मुसलमानों के आने के पहले यह मर्यादा उतनी दुर्लंध्य नहीं बनी थी, जितनी बाद में हो गई। बाद में भी समाज एकदम जीवनहीन और गतिहीन काठ के खानों में बंद नहीं था, यद्यपि उत्तरोत्तर बन्द होने की प्रवृत्ति ही बढ़ती गई है।

इस समूचे जनसमूह को एकरूपता देने वाला एक दृष्टिकोण है। वैदिक काल से मुस्लिम काल तक अनेक संघटनों और आघात-प्रत्याघातों के बाद समूचे भारतीय जनसमूह में यह दृष्टि प्रतिष्ठित हुई थी। इसे कर्मफल का सिद्धान्त कहते हैं।

कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने पर अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता। सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस (ईसवी पूर्व ९वीं शताब्दी) ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है, परन्तु विलियम जोन्स, कोलब्रुक, गार्बे, हापकिन्स प्रभृति विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि यह सिद्धान्त उक्त दार्शनिक ने भारतवर्ष से ही सीखा था। कुछ यूरोपियन पंडितों को यह बात मान्य नहीं। किसी-किसी ने तो उलटे यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हिन्दुओं ने ही यह बात

पाइथागोरस से सीखी थी ! सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद कीथ ने सन् १९०९ की रायल एसियाटिक सोसायटी में इस विषय पर एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख लिखा है। कीथ साहब नाना विचारों की अवतारणा के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पाइथागोरस पर किसी प्रकार का हिन्दू-प्रभाव तो नहीं जान पड़ता, किन्तु हिन्दुओं के कर्मबन्धन का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, यह सिद्धान्त जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता। इसका सुदूरप्रसारी परिणाम समस्त भारतीय समाज को प्रभावित किये हुए । इसने निश्चित रूप से हिन्दुओं की मनोवृत्ति को इस प्रकार मोड़ दिया है, जिसकी तुलना समस्त संसार में नहीं मिल सकती। हजारों वर्ष से भारतीय इतिहास में जो जन्म से ही नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कट विद्रोह का भाव नहीं आया, वह इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसके किये किसी का कर्मफल दूर नहीं हो सकता। चाण्डाल अपनी दुर्गति के लिये कर्म की दुहाई देता है, ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिए भी कर्म की दुहाई देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के लिये जवाबदेह है। कोई न तो किसी दूसरे के बदले उसे भोग ही सकता है और न उद्योग करके संचित और प्रारब्ध कर्मों को बदल ही सकता है। इस सिद्धान्त ने हिन्दुओं को कर्म के उद्योग में अत्यधिक वैयक्तिकता-प्रवण बना दिया है, पर साथ ही जागतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन भी कर दिया है। जो कुछ हो रहा है उसका निश्चित कारण है। उसे बदला नहीं जा सकता। अधिक-से-अधिक आदमी सिर्फ अपना भला कर सकता है।

एक तरफ़ तो यह कर्मफल का सिद्धान्त और दूसरी तरफ़ पेशों के आधार पर स्तरभेद को सनातन कर देने की व्यवस्था—इन दोनों ने इस समूचे जनसमूह के आध्यात्मिक विकास में एक अद्भुत जड़ता ला

दी है। पेशा धर्म तभी कहा जा सकता है जब उसमें व्यक्तिगत लाभ-हानि की अपेक्षा सामाजिक मंगल का भाव प्रधान हो। इस दृष्टि से कोई भी पेशा खराब नहीं है। धर्म मनुष्य से त्याग की आशा रखता है। निस्सन्देह बहुत से पेशे ऐसे हैं, जिनमें व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा सामाजिक मंगल का भाव ही अधिक है। गंदगी साफ करने का पेशा, स्मशान में शव-संस्कार करने का पेशा और हल जोतने का कार्य समाज के मङ्गल के लिये अत्यन्त ज़रूरी हैं। निस्सन्देह इनके करनेवालों में 'त्याग' भी बहुत है; परन्तु जिस त्याग से गौरव की अनुभूति नहीं होती वह धर्म नहीं कहा जा सकता। मेहतर अगर अपने पेशे से गौरव अनुभव करता है तो वह धार्मिक है परन्तु अगर वह लाचारी से या जड़तावश अपनी वंश-वृत्ति का येन-केन-प्रकारेण पालन किए जाता है, अवसर पाने पर उससे भागने का प्रयत्न करता है तो उसमें धर्म-बुद्धि नहीं है। इसीलिये मेहतर के पेशे को जो व्यक्ति बिना किसी गौरवानुभूति के किए जा रहा है, वह समाज की मङ्गल बुद्धि से उसे नहीं कर सकेगा। एक तरफ़ तो जातिव्यवस्था ने पेशों को धर्म के साथ सम्बद्ध किया है और दूसरी तरफ़ विभिन्न पेशों के सम्मान में भी ऊँच-नीच की व्यवस्था बाँध दी है। दोनों एक साथ नहीं चल सकते। या तो सभी पेशे धर्म हैं और इसीलिये एक समान सम्मान के अधिकारी हैं या फिर वे यदि समान नहीं हैं तो धर्म भी नहीं कहे जा सकते। इससे समाज में जड़ता और धृष्टता का आना अनिवार्य है।

मध्ययुग के अनेक विचारकों ने इस ऊँच-नीच के भेद पर कसकर आघात किया है। उन्होंने इसे दूर कर देने का प्रयत्न भी किया है। ये प्रयत्न अधिकांशतः धार्मिक भाव से प्रेरित रहे हैं। इन आन्दोलनों के मूल में प्रायः सर्वत्र कुछ इस प्रकार का तर्क रहा है कि सभी मनुष्य भगवान के बनाए हैं, सभी परम पिता की सन्तान हैं, अतएव सभी समान हैं।

ये आन्दोलन सफल नहीं हुए हैं। इन धार्मिक सन्तों के

नाम पर पन्थ चले हैं और प्रायः ऐसा हुआ है कि पन्थ ही या तो उसी कठोर व्यवस्था के अनुयायी बन गए हैं या स्वयं एक अलग जाति बन गए हैं। नाथ लोगों की जाति बन गई है, दक्षिण के लिंगायतों की जाति बन गई है, बङ्गाल के वैष्णवों की जाति बन गई है। कान्हू के शिष्य सँपेरों की जाति बन गई है। जिन लोगों ने कूड़ा साफ़ करना चाहा था उनके नाम के कई घूरे और बढ़ गए हैं। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऊँच-नीच के भेद को उठा देने के लिए धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। जो लोग अब भी आशा लगाए हैं कि धार्मिक आन्दोलन करके इस कठोर व्यवस्था को शिथिल कर देंगे वे इतिहास से बहुत कम सीख सके हैं। आध्यात्मिक ऊँचाई तक समाज के बहुत थोड़े लोग ही पहुँच सकते हैं। बाकी लोग छोटे-मोटे दुनियवी टंटों में उलझे रह जाते हैं। वे आध्यात्मिक आदर्श को विकृत कर देते हैं।

राजनैतिक और आर्थिक कारणों से भी जातियों की मर्यादाएँ घटी-बढ़ी हैं। राजकीय शक्ति पा जाने के बाद छोटी समझी जानेवाली जाति भी उत्तम क्षत्रिय मान ली गई है और आर्थिक उन्नति के साथ शूद्र का दर्जा बढ़कर वैश्य का दर्जा बन गया है। इनके उदाहरण बहुत हैं। वस्तुतः इन कारणों से जातियों की सामाजिक मर्यादा जितनी बढ़ी है उतनी धार्मिक आन्दोलनों के कारण एकदम नहीं। ऐसा लगता है कि भारतवर्ष की शताधिक जातियों को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करने का एकमात्र तरीका यह है कि उनकी राजनैतिक और आर्थिक मर्यादा ऊँची की जाय। जिस दिन इस अकारण दलित जनसमूह में राजनैतिक गरिमा और आर्थिक स्वाधीनता का सञ्चार होगा, उसी दिन वह वास्तव में मुक्त हो सकेगा। भगवान की सन्तान होने का उनका दावा पहले स्वीकृत हो चुका है, परन्तु उस दावे से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। नये सिरे से उस दावे के बल पर वे जातियाँ अधिक उन्नत और अग्रसर हो ही जायँगी, ऐसा विश्वास करने का कोई उचित कारण नहीं है।

लेकिन केवल हिन्दू ही इस देश में नहीं बसते। अन्यान्य धर्मावलम्बी भी कम नहीं हैं। सबसे बड़ी संख्या मुसलमानों की है। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण हिन्दुओं से भिन्न है। मुसलमान लोग एक संघटित धर्ममत (मज़हब) के अनुयायी हैं। मज़हब में धर्म-साधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहां सामाजिक और धार्मिक विधि-निषेध एक दूसरे से गुँथे रहते हैं। 'हिन्दू' कहे जाने वाले जनसमूह में एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में बदल नहीं सकता; परन्तु मुसलमानी जनसमूह का 'मज़हब' इसके ठीक विपरीत है। वह व्यक्ति को समूह का अङ्ग बना देता है। हिन्दू समाज की जातियाँ कई व्यक्तियों का समूह हैं, किन्तु मुस्लिम समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक बृहत् समूह का अङ्ग है। इसका सीधा मतलब यह है कि हिन्दू समाज का व्यक्ति अपनी अलग सत्ता रखता है, किन्तु कोई बाहर का आदमी उस जाति का अङ्ग नहीं बन सकता। मुसलमान समाज का व्यक्ति अपनी अलग सत्ता नहीं रखता और कोई भी बाहरी आदमी उस समाज का अङ्ग बन सकता है। इन दोनों दृष्टियों में बड़ा अन्तर है। इस प्रकार के अन्तर से यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनों कभी मिल ही नहीं सकते। वस्तुतः इससे कहीं अधिक अन्तर आर्यों और द्रविड़ों के दृष्टिकोणों में था; पर वे दोनों खूब अच्छी तरह मिल गए हैं। इसलिये हिन्दू और मुसलमान मिल ही नहीं सकते वह गलत मन्तव्य है। किस रास्ते मिल सकते हैं, यह विचारणीय प्रश्न है।

जब हम मिलन के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमारा उद्देश्य ऐसे मिलन से है, जिससे समूची मनुष्यता कल्याण की ओर अग्रसर हो सके। ठगों में हिन्दु-मुस्लिम एकता बहुत दूर तक सफल हुई थी, पर वह एकता वांछनीय नहीं है। इतिहास से हम इस विषय में शायद कुछ सीख सकते हैं। मध्ययुग में हिन्दू और मुसलमानों को मिलाने के लिये भी धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयास हुए हैं। उन्हें भी भगवान् की दो प्यारी आंखों के समान बताया गया है। अब भी इस

युक्ति से हिन्दू-मुस्लिम मिलन की भूमिका प्रस्तुत करने का प्रयत्न हो रहा है। निस्संदेह इन प्रयत्नों के पीछे जो शुभ-बुद्धि है उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शुभ-बुद्धि का सर्वत्र स्वागत भी होना ही चाहिए, क्योंकि उससे किसी-न-किसी प्रकार मंगल ही साधित होता है; परन्तु इतिहास की शिक्षा यह है कि यह मंगल-साधन बहुत अप्रत्यक्ष होता है। मुझे मुस्लिम-साहित्य के विशेष अध्ययन का कोई सुयोग नहीं मिला, हिन्दू-साहित्य का भी बहुत उथला ज्ञान ही पा सका हूँ। इसलिये ज़ोर देकर कुछ कहने में संकोच होता है; परन्तु जितना कुछ साहित्य अन्य मूलों से पा सका हूँ, उस पर से कुछ नतीजे मेरे मन में ऐसे निकले हैं, जिन्हें कह देने से आशा है कि कल्याण ही होगा। अपनी अल्पज्ञता के भय से उन्हें दबा रखना श्रेयस्कर नहीं है।

मैंने तीन तरफ़ से हिन्दू-मुस्लिम मिलन का सन्धान पाया है। एक मार्ग सन्त और विद्वज्जनों का रहा है। हिंदू और मुस्लिम जनता—जो वस्तुतः उच्चतर अर्थ में एक ही धर्म का पालन करती है—इस विषय पर फारसी में कुछ पुस्तकें लिखी गई थीं। एक मज्म अ-उल-बहरैन दाराशिकोह की लिखी है। इसका अंग्रेजी भाषान्तर मैंने देखा है। पुस्तक में हिन्दू-मुस्लिम धर्मों का सम्मिलन कराने का प्रयास है। हिन्दी में भी ऐसी पुस्तकें लिखी गई हैं। ऐसी पुस्तकें भी बहुत हैं, जिन में क़ुरान और गीता तथा वेद और कुरान के भक्तिमय आवेग वाले पद्यों में भी समानता खोजी गई है और उच्चतर नीति के क्षेत्र में दोनों के उपदेशों की अभिन्नता प्रतिपादित हुई है। यह एक तरह का प्रयास है; परन्तु मुझे इसमें सफलता मिलती नहीं दिखाई दी। वस्तुतः प्रत्येक हिन्दू और प्रत्येक मुसलमान जानता है कि उच्चतर आध्यात्मिक क्षेत्र में कहीं मतद्वैध नहीं है। एक ही परम शक्ति को दोनों अलग-अलग नामों से पुकारते हैं, एक ही परम पिता के सभी पुत्र हैं, एक ही त्याग-मय जीवन को सभी महापुरुष आदरणीय कह गये हैं। फिर भी इससे काम सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि साधारण जनता उच्चतर आध्यात्मिक

अनुभूतियों की अपेक्षा धर्म की रूढ़ियों को अधिक मानती है। ये रूढ़ियां ही उसके लिये धर्म हैं। शंख बजाना या बांग देना ज्यादा इन्द्रियग्राह्य आचार हैं और इसलिए इन्हें प्रधान मानकर कलह का सूत्रपात होता है।

एक दूसरा रास्ता नितान्त लौकिक है। नाच-गान, खेल-तमाशे, कपड़े-गहने, खरीद-बिक्री आदि बातों में हिन्दू-मुस्लिम मिलन बहुत दूरप्रसारी है। परन्तु कठिनाई यह है कि जब तक इनके साथ उच्चतर मनोवृत्ति का योग नहीं स्थापित होता तब तक ये चीज़ें हवा के साथ उड़ जाती हैं। मामूली धमकावे से यह भीत भहरा जाती है।

एक तीसरा क्षेत्र भी है जहाँ हिन्दू और मुसलमान सङ्कोच और झिझक छोड़कर मिले हैं। इस क्षेत्र का मिलन इतना पक्का और अकृत्रिम हुआ है कि एकता के नाम पर अपील करने वाले शुभ-बुद्धि व्यक्ति तक इसकी ख़बर नहीं रखते। कारण कि इस क्षेत्र में अलगाव का भाव एकदम लुप्त हो गया है। यह क्षेत्र है विज्ञान का। अरबी में बहुत पहले आर्यभट और ब्रह्मगुप्त आदि के ज्योतिष-ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था। इन ग्रन्थों के आधार और अनुकरण पर मुसलमान ज्योतिषियों ने अनेक ग्रन्थ लिखे। दशगुणोत्तर अंक-क्रम को अलख़ारिज़मी ने सारे यूरोप में फैलाया था। मुसलमान धर्म में मक्का की दिशा और प्रातः और सायं गोधूलि का बड़ा महत्त्व है; क्योंकि नमाज़ पढ़ने के लिये दोनों की विशेष ज़रूरत है। इन दोनों बातों का सूक्ष्म विवेचन करने के लिये मुसलमान ज्योतिषियों ने अक्षांश, देशान्तर-संस्कार तथा चर और उदयास्त का बड़ा सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन किया। हिन्दुओं का मुहूर्त्त शास्त्र मुस्लिम ज्योतिष में गृहीत हुआ है और अरबों का ताजक शास्त्र और रमल विद्या संस्कृत में सम्मानपूर्ण स्थान पा सकी है। इन शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द अरबी भाषा के हैं। ताजक नीलकण्ठी के प्रसिद्ध सोलह योगों के नाम सीधे अरबी से लिये गये हैं। इसराफ़, इकबाल, मणाऊ (मनअ्) आदि शब्द संस्कृत के

नहीं, अरबी के हैं। चिकित्सा के ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद हुआ था। यूनानी चिकित्सा-पद्धति के साथ भारतीय पद्धति के मिश्रण से एक नई चिकित्सा-पद्धति हकीमी का जन्म हुआ जो हिन्दुओं और मुसलमानों की प्रतिभा के मिलन का बड़ा सुन्दर फल है। इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान झिझक और संकोच छोड़कर मिले हैं। मुसलमान बादशाहों ने सौर वर्षों के साथ हिजरी संवत् का सामंजस्य स्थापित करके नये संवत् चलाये थे, जो हिन्दुओं के राष्ट्रीय संवत् बन गये हैं। फ़सली सन्, विलायती सन्, बंगाब्द आदि ऐसे ही सन् हैं। वस्तुतः इस क्षेत्र का मिलन जितना ठोस हुआ है उतना किसी क्षेत्र का भी नहीं। शायद इतिहास से हमें यह सीखना अभी बाकी है कि साम्प्रदायिक मिलन की भूमि वैज्ञानिक मनोवृत्ति है। इसी को उत्तेजित करना वांछनीय है।

भारतीय मनीषा ने कला, धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में नाना भाव से महत्वपूर्ण फल पाए हैं और भविष्य में भी महत्वपूर्ण फल पाने की योग्यता का परिचय वह दे चुकी है। परन्तु नाना कारणों से समूची जनता एक ही धरातल पर नहीं है और सबका मुख भी एक ही ओर नहीं है। जल्दी में कोई फल पा लेने की आशा से अटकलपच्चू सिद्धान्त क़ायम कर लेना और उसके आधार पर कार्यक्रम बनाना अभीष्ट सिद्धि में सब समय सहायक नहीं होगा। विकास की नाना सीढ़ियों पर खड़ी जनता के लिये नाना प्रकार के कार्यक्रम आवश्यक होंगे। उद्देश्य की एकता ही इन विविध कार्य-क्रमों में एकता ला सकती है; परन्तु इतना निश्चित है कि जब तक हमारे सामने उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो जाता तब तक कोई भी कार्य कितनी भी व्यापक शुभेच्छा के साथ क्यों न आरम्भ किया जाय, वह फलदायक नहीं होगा। बहुत से लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता को या हिन्दू-संघटन को ही लक्ष्य मानकर उपाय सोचने लगते हैं। वस्तुतः हिन्दू-मुस्लिम एकता भी साधन है साध्य नहीं। साध्य है मनुष्य को

पशु-सामान्य स्वार्थी धरातल से ऊपर उठाकर 'मनुष्यता' के आसन पर बैठाना। हिन्दू और मुस्लिम अगर मिलकर संसार में लूट-खसोट मचाने के लिये साम्राज्य स्थापन करने निकल पड़ें तो उस हिन्दू-मुस्लिम मिलन से मनुष्यता काँप उठेगी; परन्तु हिन्दू-मुस्लिम मिलन का उद्देश्य है मनुष्य को दासता, जड़िमा, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना; मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थ और अहमिका की दुनिया से ऊपर उठाकर सत्य, न्याय और औदार्य की दुनिया में ले जाना; मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को हटाकर परस्पर सहयोगिता के पवित्र बंधन में बांधना। मनुष्य का सामूहिक कल्याण ही हमारा लक्ष्य हो सकता है। वही मनुष्य का सर्वोत्तम प्राप्य है। आर्य, द्रविड़ शक, नाग, आभीर आदि जातियों के सैकड़ों वर्ष के संघर्ष के बाद हिन्दू दृष्टिकोण बना है। नये सिरे से भारतीय दृष्टिकोण बनाने के लिये इतने ही लम्बे अर्से की ज़रूरत नहीं है। आज हम इतिहास को अधिक यथार्थ ढंग से समझ सकते हैं और तदनुकूल अपने विकास की योजना बना सकते हैं। धैर्य हमें कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इतिहास-विधाता के इंगित समझकर ही हम अपनी योजना बनावें तो सफलता की आशा कर सकते हैं।

: १० :

भारतीय संस्कृति की देन

भारतीय संस्कृति पर कुछ कहने से पहले मैं यह निवेदन कर देना कर्त्तव्य समझता हूँ कि मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अङ्गीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजर कर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवीय संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। यह संस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है तथापि यह अस्पष्ट रूप में ही समझा जाता है। इसकी सर्वसम्मत कोई परिभाषा नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। फिर इसको एकदम अस्पष्ट भी नहीं कह सकते; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति हैं। इसकी अस्पष्टता का कारण यही है कि अब भी मनुष्य इसके सम्पूर्ण और व्यापक रूप को देख नहीं सका है। संसार के सभी महान् तत्व इसी प्रकार मानव-

चित्त में अस्पष्ट रूप से आभासित होते हैं। उनका आभासित होना ही उनकी सत्ता का प्रमाण है। मनुष्य को श्रेष्ठतर मान्यताएँ केवल अनुभूत होकर ही अपनी महिमा सूचित करती हैं। उनको स्पष्ट और सुव्यवस्थित परिभाषा में बाँधना सब समय सम्भव नहीं होता। केवल नेति-नेति कह कर ही मनुष्य ने उस अनुभूति को प्रकाशित किया है। अपनी चरम सत्यानुभूति को प्रकट करते समय कबीरदास ने इसी प्रकार की विवशता का अनुभव करते हुए कहा था—"ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कहौं अनूठा लो!" मनुष्य की सामान्य संस्कृति भी बहुत कुछ ऐसी ही अनूठी वस्तु है। मनुष्य ने उसे अभी तक सम्पूर्ण पाया नहीं है; पर उसे पाने के लिये व्यग्र भाव से उद्योग कर रहा है। यह मार-काट, नोंच-खसोट और झगड़ा-टंटा भी उसी प्रयत्न के अंग हैं। आप को यह बात कुछ विरोधाभास-सी लगेगी, पर है सत्य। रास्ता खोजते समय भटक जाना, थक जाना या झुँझला पड़ना, इस बात के सबूत नहीं हैं कि रास्ता खोजने की इच्छा ही नहीं है। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविजनोचित भाषा में इस बात को इस प्रकार कहा है कि यह जो लुहार की दुकान की खटाखट और धूल-धक्कड़ है, इनसे घबराने की जरूरत नहीं है। यहाँ वीणा के तार तैयार हो रहे हैं। जब ये तार बन जायँगे तो एक दिन इनकी मधुर सङ्गीत-ध्वनि से निश्चय ही मन और प्राण तृप्त हो जायँगे। ये युद्ध-विग्रह ये कूट-नीतिक दाँव-पेंच, ये दमन और शोषण के साधन - ये सब एक दिन समाप्त हो जायँगे। मनुष्य दिन-दिन अपने महान् लक्ष्य के नजदीक पहुँचता जायगा। सामान्य मानव-संस्कृति ऐसा ही दुर्लभ लक्ष्य है। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक देश और जाति ने अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार उस महान् लक्ष्य के किसी-न-किसी पहलू का अवश्य साक्षात्कार किया है। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक साधनों के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न जातियाँ एक दूसरे के नजदीक आती जायँगी त्यों-त्यों इन अंश सत्यों की सार्थकता प्रकट

होती जायगी और हम सामान्य व्यापक सत्य को पाते जायँगे। आज की मारा मारी इसमें थोड़ा रुकावट डाल सकती है; पर इस प्रयत्न को निःशेष भाव से समाप्त नहीं कर सकती। अपने इस विश्वास का कारण मैं आगे बताने का प्रयत्न करूंगा।

जो आदमी ऐसा विश्वास करता है, उससे संस्कृति के साथ 'भारतीय' विशेषण जोड़ने का अर्थ पूछना नितान्त संगत है। क्या 'भारतीय' से मतलब भारतवर्ष के समस्त अच्छे बुरे प्रयत्न और संस्कार हैं? नहीं; समस्त भारतीय संस्कार अच्छे ही हैं या मनुष्य की सर्वोत्तम साधना की ओर अग्रसर करने वाले ही हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। ऐसा देखा गया है कि एक जाति ने जिस बात को अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार माना है, वह दूसरी जाति की सर्वोत्तम साधना के साथ मेल नहीं खाता। ऐसा भी हो सकता है कि एक जाति के संस्कार दूसरी जाति के संस्कार के एकदम उलटे पड़ते हों। हो सकता है कि एक जाति मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण में ही अपनी कृतार्थता मानती हो और यह भी हो सकता है कि दूसरी जाति उनको तोड़ डालने को ही अपनी चरम सार्थकता मानती हो। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसे स्थलों पर विचार करने की आवश्यकता होगी। सत्य परस्पर विरोधी नहीं होता। प्रसिद्ध सन्त रज्जवदास ने कहा था—'सब साँच मिलै सो साँच है, ना मिलै सो झूठ"। सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है। जहाँ भी अविरोधी दीखे, वहाँ सोचने की जरूरत होगी। हो सकता है कि दो भिन्न-भिन्न जन-समुदाय मोहवश दो असत्य बातों को ही बड़ा सत्य मान बैठे हों। हो सकता है कि दोनों में से एक सही हो और दूसरा गलत। साथ ही यह भी हो सकता है कि दोनों सही रास्ते पर हों; पर उनके दृष्टिकोण गलत हों। यदि हमें अपनी गलती मालूम हो तो उसे निर्मम भाव से छोड़ देना होगा। महाभारत ने बहुत पहले घोषणा की थी कि जो धर्म दूसरे धर्म को बाधित करता है, वह धर्म नहीं है कुधर्म है। सच्चा धर्म अविरोधी होता है—

धर्मो यो बाधते धर्मं न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिसत्तम ॥

मैं जब 'भारतीय' विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोधी धर्म की ही बात करता हूँ। अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिये इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किये हैं। जितने अंश में वह प्रयत्न संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्न का अविरोधी है, उतने अंश में वह उनका पूरक भी है। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अविरोधी धर्मों की भाँति वह मनुष्य की जययात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है, उतने ही अंश में वह सार्थक और महान् है। वही भारतीय संस्कृति है। उसको प्रकट करना, उसकी व्याख्या करना या उसके प्रति जिज्ञासा-भाव उचित है। यह प्रयास अपनी बड़ाई का प्रमाणपत्र संग्रह करने के लिये नहीं है, बल्कि मनुष्य की जययात्रा में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से प्ररोचित है। इसी महान् उद्देश्य के लिये उसका अध्ययन, मनन और प्रकाशन होना चाहिए।

मनुष्य की जययात्रा! क्या मनुष्य ने किसी अज्ञात शत्रु को परास्त करने के लिये अपना दुर्द्धर रथ जोता है? मनुष्य की जययात्रा! क्या जान-बूझकर लोकचित्त को व्यामोहित करने के लिये यह पहेली जैसा वाक्य बताया गया है? मनुष्य की जययात्रा का क्या अर्थ हो सकता है? परन्तु मैं पाठकों को किसी प्रकार के शब्द-जाल में उलझाने का संकल्प लेकर नहीं आया हूँ। मुझे यह वाक्य सचमुच बड़ा बल देता है। न जाने किस अनादि-काल के एक अज्ञात मुहूर्त में यह पृथ्वी नामक ग्रहपिण्ड सूर्य-मण्डल से टूटकर उसी के चारों ओर चक्कर काटने लगा था। मुझे उस समय का चित्र कल्पना के नेत्रों से देखने में बड़ा आनन्द आता है। उस सद्यस्त्रुटित धरित्री-पिण्ड में

ज्वलन्त गैस भरे हुए थे। कोई नहीं जानता कि इन असंख्य अग्निगर्भ-कणों में से किसमें या किनमें जीवतत्त्व का अंकुर वर्तमान था। शायद वह सर्वत्र परिव्याप्त था। इसके बाद लाखों वर्ष तक धरती ठंडी होती रही, लाखों वर्ष तक उस पर तरल-तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्ष तक उसके भीतर और बाहर प्रलयकाण्ड मचा रहा, पृथ्वी अन्यान्य ग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर उसी प्रकार नाचती रही जिस प्रकार खिलाड़ी के इशारे पर सरकस के घोड़े नाचते रहते हैं। जीवतत्त्व स्थिर अविक्षुब्ध भाव से उचित अवसर की प्रतीक्षा में बैठा रहा। अवसर आने पर उसने समस्त जड़शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया—नगण्य तृणांकुर के रूप में! तब से आज तक संपूर्ण जड़शक्ति अपने आकर्षण का समूचा वेग लगाकर भी उसे नीचे की ओर नहीं खींच सकी। सृष्टि के इतिहास में यह एकदम अघटित घटना थी। अब तक महाकर्ष (ग्रेविटेशन पावर) के विराट् वेग को रोकने में कोई समर्थ नहीं हो सका था। जीवतत्त्व प्रथम वार अपनी ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति की अदम्य ताकत के बल पर इस महाकर्ष को अस्वीकार कर सका। तब से वह निरन्तर अग्रसर होता गया। मनुष्य उसी को अंतिम परिणति है। वह एक कोश से अनेक कोशों के जटिल सङ्घटन में, कर्मेन्द्रियों से ज्ञानेन्द्रियों की ओर, ज्ञानेन्द्रिय से मन और बुद्धि की तरफ संकुचित होता हुआ मानवात्मा के रूप में प्रकट हुआ। पंडितों ने देखा है कि मनुष्य तक आते-आते, प्रकृति ने अपने कारखाने में असंख्य प्रयोग किये हैं। पुराने जन्तुओं की विशाल ठठरियाँ आज भी यत्र-तत्र मिल जाती हैं और उन असंख्य प्रयोगों की गवाही दे जाती हैं। प्रकृति अपने प्रयोगों में कृपण कभी भी नहीं रही है। उसने बरबादी की कभी परवाह नहीं की। दस वृक्षों के लिये वह दस लाख बीज बनाने में कभी कोताही नहीं करती। यह सब क्या व्यर्थ की अंधता है, सुस्पष्ट योजना का अभाव है या हिसाब न जानने का दुष्परिणाम है? कौन बतायेगा कि किस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रकृति ने इतनी बरबादी सही है? हम केवल

इतना ही जानते हैं कि जब जीवतत्त्व समस्त विघ्न बाधाओं को अतिक्रम करके मनुष्य-रूप में अभिव्यक्त हुए तब इतिहास ही बदल गया। जो कुछ जैसा होना है, वह होकर ही रहेगा—यही प्रकृति का अचल विधान है। कार्य-कारण बनता है और नये कार्य को जन्म देता है। कार्य-कारणों की इस नीरंध्र ठोस परम्परा में इच्छा का कोई स्थान नहीं था। जो जैसा होने को है, वह होकर ही रहेगा। इसी समय मनुष्य आया। उसने इस साधारण नियम को अस्वीकार किया। उसने अपनी इच्छा के लिए न जाने कहाँ से एक फाँक निकाला। जो जैसा है वैसा ही मान लेने की विवशता को उसने नहीं माना, जैसा होना चाहिए, वही बड़ी बात है। इस जगह से सृष्टि का दूसरा अध्याय शुरू हुआ। एक बार कल्पना कीजिए तरल-तप्त धातुओं के प्रचण्ड समुद्र की, निरन्तर झरने वाले अग्निगर्भ-मेघों की, विपुल जड़ संघात की, और फिर कल्पना कीजिए क्षुद्रकाय मनुष्य की! विराट् ब्रह्माण्ड निकाय, कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्तनृत्य, अनन्त शून्य में निरन्तर उदयमान और विनाशमान नीहारिका पुञ्ज विस्मयकारी हैं; पर उनसे अधिक विस्मयकारी है मनुष्य, जो नगण्य स्थान-काल में रहकर इनकी नाप-जोख करने निकल पड़ा है! क्या मनुष्य इस सृष्टि की अन्तिम परिणति है? क्या विधाता ने केशवदास के बीरबल की भाँति इस कृती जीव की रचना करके हाथ झाड़ लिया है—मैं करतार बली बलबीर दियो करतार दुहूँ कर तारी! कौन कह सकता है? परन्तु यह क्या मनुष्य की अमोघ जययात्रा नहीं है? क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि समस्त गलतियों के बावजूद मनुष्य भी मनुष्यता की उच्चतर अभिव्यक्तियों की ओर ही बढ़ रहा है?

यह जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, जो कुछ जैसा होने वाला है, उसको वैसा ही न मानकर जैसा होना चाहिए, उसकी ओर जाने का प्रयत्न है, यही मनुष्य की मनुष्यता है। अनेक बातों में मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं है। मनुष्य पशु की

अवस्था से ही अग्रसर होकर इस अवस्था में आया है। इसलिए वह स्थूल को छोड़कर रह नहीं सकता। यही कारण है कि मनुष्य को दो प्रकार के कर्तव्य निबाहने पड़ते हैं : एक स्थूल की क्षुधा निवृत्त करना और दूसरा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर बढ़नेवाली अपनी ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को सन्तुष्ट करना। आहार-निद्रा आदि के साधन भी मनुष्य को जुटाने पड़े हैं। यद्यपि मनुष्य-बुद्धि ने इनमें भी कमाल का उत्कर्ष दिखाया है, पर प्रयोजन प्रयोजन ही हैं। प्रयोजन के जो अतीत हैं, जहाँ मनुष्य की अनंदिनी वृत्ति ही चरितार्थ होती है, वहाँ मनुष्य की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को सन्तोष होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य संघबद्ध होकर रहने का अभ्यस्त होता गया है त्यों-त्यों उसे सामाजिक संघटन के लिए नाना प्रकार के नियम-कानून बनाने पड़े। इस संघटन को दोषहीन और गतिशील बनाने के लिए उसने दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था भी की, इन बातों को एक शब्द में सभ्यता कहते हैं। आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक संघटन, नैतिक परम्परा और सौंदर्यबोध को तीव्रतर करने की योजना; ये सभ्यता के चार स्तंभ हैं। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है। सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत अन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति। परन्तु शायद फिर मैं पहेलियों की बोली बोलने लगा हूँ। आप जानना चाहेंगे कि यह बाह्य प्रयोजन और अन्तर अभिव्यक्ति क्या बला हैं? किसको तुम बाह्य कहते हो और किसको अन्तर, तुम्हारे कथन में प्रमाण क्या है?

यह जो हमारे बाह्यकरण हैं—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय हैं—ये हमारे अत्यन्त स्थूल प्रयोजनों के निवर्तक हैं। मन इनसे सूक्ष्म है, बुद्धि और भी सूक्ष्म है। मन से हम हजार गज की लम्बाई की भी एकाएक धारणा नहीं कर सकते; पर बुद्धि द्वारा, ज्योतिषी कोटि-कोटि प्रकाश वर्षों में फैले हुए ग्रह-नक्षत्रों की नाप-जोख किया करते हैं। परन्तु बुद्धि भी बड़ी चीज नहीं है। बुद्धि से भी बढ़कर कोई वस्तु

है। वही अन्तरतम है। गीता में कहा है —

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्योबुद्धेः पर तस्तु सः ।

जो वस्तु केवल इन्द्रियों को सन्तुष्ट कर सके, वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो वस्तु मन को सन्तुष्ट कर सके, अर्थात् हमारे भावावेगों को संतोष दे सके, वह पहली से सूक्ष्म होने पर भी बहुत बड़ी नहीं है। जो बात बुद्धि को सन्तोष दे सके, वह जरूर बड़ी है, पर वह भी बाह्य है। बुद्धि से भी परे कुछ है। वही वास्तव है, उसका संतोष ही काम्य है। परन्तु वह क्या है? मैं भारतीय मनीषा के इस मन्तव्य तक आपको ले आकर यह आशा नहीं कर रहा हूँ कि आप शास्त्रवाक्य पर विश्वास कर लें। मैं इसके निकट आपको ले आकर छोड़ देता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि यहाँ तक आकर आप इसकी गहराई में पैठने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। जब तक इसकी गहराई में पैठने का प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक मनुष्य के बड़े-बड़े प्रयत्नों का रहस्य समझ में नहीं आयगा।

तैत्तरीय उपनिषद् में भृगुवल्ली वरुण के पुत्र भृगु की मनोरंजक कथा दी हुई है। भृगु ने जाकर वरुण से कहा था कि हे भगवन्, मैं ब्रह्म को जानना चाहता हूँ। पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने समझा—अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। इस बार पुत्र कुछ और गहराई में गया। उसने प्राण को ही ब्रह्म समझा। पिता को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने पुत्र को पुनः तप करने के लिए उत्साहित किया। पुत्र ने फिर तप किया और समझा कि मन ही ब्रह्म है! पिता फिर भी असंतुष्ट ही रहे। फिर तप करने के बाद पुत्र ने अनुभव किया—विज्ञान ही ब्रह्म है। पर पिता को अब भी संतोष नहीं हुआ। पुनर्वार कठिन तप के बाद पुत्र ने समझा—आनंद ही ब्रह्म है। यही चरम सत्य था। इस प्रकार अन्न (भौतिक पदार्थ)—प्राण—मन—विज्ञान (बुद्धि)—आनन्द (अध्यात्म तत्त्व)—ये ही ज्ञान के पाँच

स्तर हैं। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इन्हीं पाँचों को आश्रय करके संसार के भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत बने हैं। साधारणतः इनको आश्रय करके दो-दो प्रकार के मत बन जाते हैं। तर्काश्रित मत और विश्वास-समर्थित मत। संदेह को उद्रिक्त करनेवाला तर्काश्रित मत फिलासफी का प्रतिपाद्य मत बन गया है और विश्वास को आश्रय करके श्रद्धा को उद्रिक्त करने वाला मत धर्म विज्ञान का। भारतवर्ष का इतिहास अन्य देशों से कुछ विचित्र रहा है। सभ्यता के उषःकाल से लेकर आधुनिक काल के आरंभ तक हमारे इस देश में नाना मानव-समूहों की धारा बराबर इस देश में आती रही है। इसमें सभ्य, अर्धसभ्य और बर्बर सभी श्रेणी के मनुष्य रहे हैं। भारतीय मनीषो शुरू से ही मनुष्य के बहुविध विश्वासों और मतों को जानने का अवसर पा सके हैं। इसीलिए यहाँ धर्म विज्ञान और तत्त्व जिज्ञासा कभी परस्पर विरोधी मत नहीं माने गये। भारतीय ऋषि ने दोनों का उचित सामंजस्य किया है। शायद इस विषय में भारतवर्ष सारे संसार को कुछ दे सकता है। भारतवर्ष के दार्शनिक साहित्य के आलोचकों को आश्चर्य हुआ है कि इस देश में उस चीज का कभी विकास ही नहीं हो पाया, जिसे फिलासफी कहते हैं। भारतवर्ष के दर्शन धर्म पर आधारित बनाये गये हैं। 'दर्शन' शब्द का अर्थ ही देखना है। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि 'दर्शन' कुछ सिद्ध महात्माओं के देखे हुए (साक्षात्कृत) सत्यों का प्रतिपादन करते हैं। जैसा कि हमने अभी लक्ष्य किया है, यह 'देखना' तब वास्तविक होगा जब वह केवल इंद्रिय द्वारा, प्राण द्वारा, मन द्वारा यहाँ तक कि बुद्धि द्वारा भी दृष्ट स्थूल तथ्यों को पोछे छोड़कर उस वस्तु के द्वारा देखा गया हो जो आनन्दस्वरूप है, जो सबके परे और सबसे सूक्ष्म है। यही स्वसंवेद्य ज्ञान है। परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी अनुभव करता है, वह सत्य ही है। शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक है। जब तक मनुष्य का बाहर और भीतर शुद्ध, निर्मल और पवित्र नहीं होते तब तक वह गलत वस्तु को सत्य समझ सकता है। चंचल

मन से कोई मामूली समस्या भी ठीक-ठीक समाहित नहीं होती। यह जो वाह्य और अन्तःकरणों की शुद्धि है, यही भारतीय दर्शनों की विशेषता है। जैसे-तैसे रहकर, जैसा-तैसा सोचकर बड़े सत्य को अनुभव नहीं किया जा सकता। चंचल चित्त केवल विकृत चिन्ता में ही लगा रहता है। भारतीय मनीषियों ने इस चंचल चित्त को वश करने के उपाय बनाये हैं। इसी उपाय का नाम योग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि यद्यपि मन बड़ा चंचल है और उसे वश में करना कठिन है तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य के लिये भारतीय साहित्य में शताधिक ग्रन्थ वर्तमान हैं। संभवतः सारे संसार के बुद्धिजीवी इस विषय में यहाँ से कुछ सीख सकते हैं। केवल बौद्धिक विश्लेषण द्वारा सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। सर्वत्र अभ्यास और वैराग्य आवश्यक हैं।

हमने अभी जिन पाँच तत्त्वों को लक्ष्य किया, उनमें सबसे स्थूल है यह शरीर, फिर प्राण और फिर मन। शरीर का प्रतीक विंदु है। भारतीय मनीषियों ने अनुभव किया है कि इनमें से किसी एक को संयत करने का अभ्यास किया जाय तो बाकी संयत हो जाते हैं। भारतवर्ष के नाना आध्यात्मिक पंथ इन तीनों को संयत करने के ऊपर जोर देने के कारण अलग-अलग हो गये हैं। संयमन की विधि भी सर्वत्र एक नहीं है। नाना बौद्ध और शाक्त साधनाओं में विन्दु को वश में करने की विधियाँ बताई गई हैं, हठयोग प्राण को वश करने के पक्ष में है, राजयोग मन को वश करने की विधि बताता है। ये सब अभ्यास द्वारा सिद्ध होते हैं। ऊपर-ऊपर से देखनेवाले आलोचक भारतीय साधनमार्गों में इतना अधिक भेद देखते हैं कि उन्हें समझ में ही नहीं आता कि ये विभिन्न पंथ किस प्रकार अपने को एक ही मूल उद्गम से उद्भूत बताते हैं। गहराई में जानेवाले के लिये ये विरोध नगण्य हैं। नाना भाँति के अभ्यास के द्वारा साधक विंदु, प्राण और मन को स्थिर करता है। तब जाकर अन्तःकरण निर्मल स्फटिक मणि के समान होता है। परन्तु यहां भी

भ्रान्ति का अवकाश रहता है। इसीलिये भारतीय मनीषियों ने केवल अभ्यास को ही एकमात्र साधन नहीं माना। अभ्यास के साथ वैराग्य होना चाहिए। राग-द्वेष-वश जो इन्द्रियचाञ्चल्य होता है, उसको रोकना, राग और विराग के विषयों को अलग-अलग समझ सकना, मन द्वारा विषयों की चिन्ता और अन्त में मानसिक उत्सुकता को दबा देना—ये सब वैराग्य के भेद हैं; परन्तु असली वैराग्य तब होता है जब अन्तरात्मा समस्त इंद्रियार्थों से और मन-बुद्धि आदि सब तत्त्वों से अपने को पृथक् समझ लेता है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से चित्त स्थिर होता है और बुद्धि निर्मल होती है—केवल उसी समय परम सत्य का साक्षात्कार होता है।

मेरा अनुमान है कि विचार का यह प्रकृष्ट पंथ है; परन्तु यह मेरा दावा नहीं है कि मैं इस बात को ठीक-ठीक समझ सकता हूँ। वस्तुतः यह साधना का विषय है; परंतु यह समझना कठिन नहीं है कि किसी बात की सचाई तक पहुँचने के लिये एक प्रकार के बौद्धिक वैराग्य की आवश्यकता है। संसार की समस्त जटिल समस्याएँ नित्य-प्रति और भी जटिलतर इसलिये होती जाती हैं कि इनपर विचार करनेवालों में मानसिक संयम और बौद्धिक वैराग्य का अभाव है। लोग अपने-अपने विशेष स्वार्थों और विचार-पद्धतियों के भीतर से दूसरों को देखने का प्रयास करते हैं और समस्याएँ और भी जटिलतर होती जाती हैं। बौद्धिक वैराग्य ही मनुष्य को संस्कृत बनाता है।

भारतवर्ष का साहित्य बड़ा विशाल और विपुल है। उसने ज्ञान और साधना के क्षेत्र में नाना भाव से विचार किया है। मैं सबकी चर्चा करने योग्य अधिकारी भी नहीं हूँ और यहाँ इतना समय भी नहीं है; परंतु इतना स्मरण कर लेना उचित है कि यह जो आध्यात्मिक परमसत्य की उपलब्धि है और जिसके लिये शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक संयम और वैराग्य की बात बताई गई है—सिर्फ यही एकमात्र काम्य नहीं बताया गया। यद्यपि यह परमोत्तम लक्ष्य है, पर इस लक्ष्य की पूर्ति

के पहले प्रत्येक व्यक्ति को कुछ ऋण चुका लेने पड़ते हैं। बहुत थोड़े लोगों को इन ऋणों से छुटकारा दिया गया है। अधिकांश लोग इन ऋणों को चुकाये बिना किसी भी बड़ी साधना के अधिकारी नहीं हो सकते। भारतीय विश्वास के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों को ले कर पैदा होता है। ये तीन ऋण हैं—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। पैदा होते ही मनुष्य अपने संपूर्ण शरीर और इन्द्रियों को पा जाता है। ये इन्द्रियां उसे न मिलतीं तो न तो वह संसार का कुछ आनंद ही उपभोग कर सकता, न कुछ नया दे ही सकता। निश्चय ही वह माता-पिता के निकट इसके लिये ऋणी है। परन्तु वस्तुतः वह अनादिकालीन धारा का परिणाम पितृ-पितामहों ने उसे जो शरीर दिया है, उसका क्या कोई प्रतिदान दे सकता है? भारतीय मनीषी ने इसका एकमात्र उपाय यह बताया है कि मनुष्य इसे ऋण के रूप में स्वीकार कर ले और पितृ-पितामहों की इस धारा को आगे बढ़ा दे। धारा रुद्ध न होने पावे। कौन जानता है, भविष्य में उसी धारा में कौन कृती बालक पैदा होकर संसार को नई रोशनी दे। इसीलिये शास्त्रकारों ने पितृऋण से मुक्ति पाने का उपाय संतान उत्पन्न करना और उन्हें शिक्षित बनाकर समाज के हाथों सौंप जाने को बताया है। फिर मनुष्य पैदा होते ही अनेक विद्वानों और विज्ञानियों की आविष्कृत ज्ञानराशि को सहज ही पा जाता है। हर व्यक्ति को नये सिरे से अगर अपना-अपना प्रयोग और आविष्कार चलाना पड़ता तो मनुष्य की यह दुनिया कैसी बन गई होती, यह केवल सोचने की ही बात है। सो मनुष्य इस प्रकार अतीत के ऋषियों का ऋण लिए हुए पैदा होता है। इसे चुकाने का उपाय ज्ञान की धारा को रक्षा और उसे अग्रसर कर देना है। विद्या पढ़ना और ज्ञानधारा को अग्रसर करना कोई कृतित्व नहीं है, सिर्फ कर्ज़ा चुकाने का कर्तव्यपालन-मात्र है। फिर अन्न को पैदा करनेवाली पृथ्वी, जल बरसानेवाले मेघ, प्रकाश देनेवाला सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियाँ—जिन्हें भारतीय मनीषी देवता कहता है—हमें अनायास मिल गई हैं।

भारतीय मनीषी ने इनके ऋण से मुक्ति पाने का उपाय बाँटकर भोग करना बताया है। जो तुम्हारे पास है, उसे सबको बाँटकर ग्रहण करो। सो ये तीन ऋण मनुष्य के ऊपर जन्म से ही लदे आते हैं। इन तीन ऋणों को चुकाये बिना मोक्ष पाने का प्रयत्न पाप है। भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति से यह कम-से-कम आशा की गई है कि वह समाज को स्वस्थ और शिक्षित सन्तान दे, प्राचीन ज्ञान-परंपरा की रक्षा करे और उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्राकृतिक शक्तियों से प्राप्त संपद् को निजी समझकर दबा न रखे। ये ऋण हैं। मनुस्मृति के छठवें अध्याय में कहा गया है कि जो इनको चुकाये बिना ही मोक्ष की कामना करता है, वह अधःपतित होता है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

जब तक ये ऋण चुका नहीं दिये जाते तब तक मनुष्य को बड़ी बात सोचने का अधिकार नहीं है।

भारतवर्ष ने एशिया और यूरोप के देशों को अपनी धर्म-साधना की उत्तम वस्तुएँ दान दी हैं। उसने अहिंसा और मैत्री का संदेश दिया है, क्षुद्र दुनियवी स्वार्थों की उपेक्षा करके विशाल आध्या-त्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है और उनसे जिन बातों को ग्रहण किया है वे भी उसी प्रकार महान् और दीर्घस्थायी रही हैं। उच्च-तर क्षेत्र के आदान-प्रदान के ठोस चिह्न अब भी इस भूमि के नीचे से निकलते रहते हैं और विदेशों में मिल जाया करते हैं। हमारा धर्म-विज्ञान, हमारा मूर्ति और मन्दिर-शिल्प, हमारा दर्शन-शास्त्र, हमारे काव्य और नाटक, हमारी चिकित्सा और ज्योतिष संसार में गये हैं, सम्मानित और स्वीकृत हुए हैं और संसार की उच्च चिंताशील जातियों से थोड़ा-बहुत प्रभावित भी हुए हैं। मैं आज आपको उस दिव्य लोक की सैर नहीं करा सका जहाँ भारतीय आचार्य पर्वतों और रेगिस्तानों को लांघ कर अहिंसा और मैत्री का संदेश देते हैं, जहाँ हमारे शिल्पी गांधार

और यवन कलाकारों के साथ मिलकर पत्थर में जान डाल रहे हैं, जहाँ अरब और ईरान के मनीषियों के साथ मिलकर वे चिकित्सा और ज्योतिष का प्रचार कर रहे हैं, जहाँ मलय और यवद्वीप में वहाँ के निवासियों से मिलकर शिल्प और कला में नया प्राण संचार कर रहे हैं, मैं उस परम मोहक लोक में आपको न ले जाकर शास्त्रीय नीरस विचारों में उलझाये रहा; परन्तु इसके लिये मुझे क्षमा माँगने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि भारतीय मनीषियों ने अपने देशवासियों में जीवन के आवश्यक कर्तव्यों, संयम और वैराग्य की महिमा और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की ओर झुकने का जो प्रेम पैदा किया उसका ही परिणाम है कि भारतवर्ष दीर्घ काल तक पशुसुलभ क्षुद्र स्वार्थों का गुलाम नहीं बन सका। आज हम सांस्कृतिक दृष्टि से जो बहुत नीचे गिर गये हैं, उसका प्रधान कारण यही है कि हम इस महान् आदर्श को भूल गये हैं। मेरा विश्वास है कि इन आदर्शों को नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने से हम तो ऊपर उठेंगे ही, सारे संसार को भी उसमें कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य मिलेगा, जिससे उसे वर्तमान प्रलयंकर अवस्था से उबरने का मौका मिले।

भारतवर्ष ने सामान्य मानवीय संस्कृति को पूर्ण और व्यापक बनाने की जो महती साधना की है, उसके प्रत्येक पहलू का अध्ययन और प्रकाशन हमारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होना चाहिए।

: ११ :

हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री

हिन्दी साहित्य का इतिहास केवल संयोग और सौभाग्यवश प्राप्त हुई पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता। हिन्दी का साहित्य सम्पूर्णतः लोक-भाषा का साहित्य है। उसके लिए संयोग से मिली पुस्तकें ही पर्याप्त नहीं हैं। पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की किसी विशेष चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं, पर उस विशेष चिन्ताधारा के विकास में जिन पार्श्ववर्ती विचारों और आचारों ने प्रभाव डाला था, वे, बहुत सम्भव है, पुस्तक रूप में कभी लिपिबद्ध हुए ही न हों और यदि लिपिबद्ध हुए भी हों तो सम्भवतः प्राप्त न हो सके हों। कबीरदास का बीजक दीर्घकाल तक बुन्देलखंड से झारखंड और वहाँ से बिहार होते हुए धनौती के मठ में पड़ा रहा और बहुत बाद में प्रकाशित किया गया। उसकी रमैनियों से एक ऐसी धर्म-साधना का अनुमान होता है, जिसके प्रधान उपास्य निरंजन या धर्मराज थे। उत्तरी उड़ीसा और झारखंड में प्राप्त पुस्तकों तथा स्थानीय जातियों की आधार-परम्परा के अध्ययन से यह अनुमान पुष्ट होता है। पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धर्म ठाकुर की परम्परा अब भी जारी है। इस जीवित सम्प्रदाय तथा उड़ीसा के अर्द्धविस्मृत सम्प्रदायों के अध्ययन से बीजक के द्वारा अनुमित धर्मसाधना का समर्थन होता है। इस प्रकार कबीरदास का बीजक इस समय यद्यपि अपने पुराने विशुद्ध रूप में प्राप्त नहीं है—

उसमें बाद के अनेक पद प्रक्षिप्त हुए हैं—तथापि वह एक जनसमुदाय की विचार-परम्परा के अध्ययन में सहायक है। कबीर का बीजक केवल अपना ही परिचय देकर समाप्त नहीं होता। वह उस से अधिक है। वह अपने इर्दगिर्द के मनुष्यों का इतिहास बताता है।

भारतीय समाज ठीक वैसा ही हमेशा नहीं रहा है, जैसा आज है। नये-नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने-अपने विचारों और आचारों का प्रभाव छोड़ते रहे हैं। आज की समाज-व्यवस्था कोई सनातन व्यवस्था नहीं है। आज जो जातियाँ समाज के निचले स्तर में पड़ी हुई हैं, वे सदा वहीं रही हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार समाज के ऊपरी स्तर में रहने वाली जातियाँ भी नाना परिस्थितियों को पार करती हुई वहाँ पहुँची हैं। इस विराट जनसमुद्र का सामाजिक जीवन काफ़ी स्थितिशील रहा है। फिर भी ऐसी धाराओं का नितान्त अभाव भी नहीं रहा है, जिन्होंने समाज को ऊपर से नीचे तक आलोड़ित कर दिया है। ऐसा भी एक जमाना था, जब इस देश का एक बहुत बड़ा जनसमाज ब्राह्मणधर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी अलग पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक भावना थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं। किसी विराट सामाजिक दबाव के फलस्वरूप एक बार समूचे जनसमाज को दो बड़े-बड़े कैम्पों में विभक्त हो जाना पड़ा—हिन्दू और मुसलमान। गोरखनाथ के बारह सम्प्रदायों में उनसे पूर्व काल के अनेक बौद्ध, जैन, शैव और शाक्त सम्प्रदाय संगठित हुए थे। इनमें कुछ ऐसे सम्प्रदाय, जो केन्द्र से अत्यन्त दूर पड़ गये थे, मुसलमान हो गये, कुछ हिन्दू। हिन्दी-साहित्य की पुस्तकों से ही उस परम शक्तिशाली सामाजिक दबाव का अनुमान होता है। इतिहास में इसका कोई और प्रमाण नहीं है, परन्तु परिणाम देखकर निस्सन्देह इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि मुसलमानों के आगमन के समय इस देश में प्रत्येक जनसमूह को किसी-न-किसी बड़े कैम्प में शरण लेनी

पड़ी थी। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक के अर्द्धचन्द्राकृति भूभाग में बसी हुई जुलाहा जाति को देख कर रिजली ने अनुमान किया था कि इन्होंने कभी सामूहिक रूप में मुसलमानी धर्म स्वीकार किया था।[1] हाल कि खोजों से इस मत की पुष्टि हुई है। ये लोग न-हिन्दू-न-मुसलमान योगी-सम्प्रदाय के शिष्य थे।

साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, कवि और काव्य, सम्प्रदाय और उनके आचार्य, उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ़ इशाराभर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।

सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का लोकभाषा का जो साहित्य बनता रहा, वह अधिकांश उपेक्षित है। बहुत काल तक लोगों का ध्यान इधर गया ही नहीं था। केवल लोकसाहित्य ही क्यों, वह विशाल शास्त्रीय साहित्य भी उपेक्षित ही रहा है, जो उस युग की समस्त साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना का उत्स था। काश्मीर के शैव साहित्य, वैष्णव संहिताओं का विपुल साहित्य, पाशुपत शैवों का इतस्ततो विक्षिप्त साहित्य, तन्त्रग्रन्थ, जैन और बौद्ध अपभ्रंश ग्रन्थ अभी केवल शुरू किये गये हैं। श्रेडर ने जमकर परिश्रम न किया होता तो संहिताओं का वह विपुल साहित्य विद्वन्मंडली के सामने उपस्थित ही न होता, जिसने बाद में सारे भारतवर्ष के साहित्य को प्रभावित किया है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने

---

[1] पीपुल्स ऑव इण्डिया, पृ० १२६

के पहले निम्नलिखित साहित्यों की जाँच कर लेना बड़ा उपयोगी होगा, जिनकी अच्छी जानकारी के बिना हम न तो भक्ति-काल के साहित्य को समझ सकेंगे और न वीरगाथा या रीतिकाल को—

१. जैन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य।

२. काश्मीर के शैवों और दक्षिण तथा पूर्व के तान्त्रिकों का साहित्य।

३. उत्तर और उत्तर-पश्चिम के नाथों का साहित्य।

४. वैष्णव आगम।

५. पुराण।

६. निबन्धग्रन्थ।

७. पूर्व के प्रच्छन्न बौद्ध-वैष्णवों का साहित्य।

८. विविध लौकिक कथाओं का साहित्य।

जैन अपभ्रंश का विपुल साहित्य अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। जितना भी यह साहित्य प्रकाशित हुआ है, उतना हिन्दी के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जोइन्दु (योगीन्द्र) और रामसिंह के दोहों के पाठक स्वीकार करेंगे कि क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या शैव (नाथ) सभी सम्प्रदायों में एक रूढ़िविरोधी और अन्तर्मुखी साधना का दाना दसवीं शताब्दी के बहुत पहले बँध चुका था। बौद्ध अपभ्रंश के ग्रन्थ भी इसी बात को सिद्ध करते हैं। योग-प्रवणता, अन्तर्मुखी साधना और परम प्राप्तव्य का शरीर के भीतर ही पाया जा सकना इत्यादि बातें उस देशव्यापी साधना का केन्द्र थीं। यही बातें आगे चलकर विविध निर्गुण सम्प्रदायों में अन्य भाव से स्थान पा गईं। निर्गुण साहित्य तक ही यह साहित्य हमारी सहायता नहीं करेगा। काव्य के रूपों के विकास और तत्कालीन लोकचिन्ता का भी उससे परिचय मिलेगा। राहुलजी जैसे विद्वान तो स्वयम्भू की रामायण को हिन्दी का सबसे श्रेष्ठ काव्य मानते हैं। यद्यपि वह अपभ्रंश का ही काव्य है, तथापि महापुराण आदि ग्रन्थों को जिसने नहीं पढ़ा, वह सचमुच ही एक महान् रसस्रोत से वंचित रह गया। रीति-

काल के अध्ययन में भी यह साहित्य सहायक सिद्ध होगा।

काश्मीर का शैव साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभा-
वित करता है। यद्यपि श्री जगदीश बनर्जी और मुकुन्दराम शास्त्री
आदि विद्वानों के प्रयत्न से वह प्रकाश में आया है, फिर भी उसकी
ओर विद्वानों का जितना ध्यान जाना चाहिए उतना नहीं गया है।
हिन्दी में पं० बलदेव उपाध्याय ने इसके और तन्त्रों के तत्त्ववाद का
संक्षिप्त रूप में परिचय कराया है, पर इस विषय पर और भी पुस्तकें
प्रकाशित होनी चाहिएं। यह आश्चर्य की बात है कि उत्तर का अद्वैत
मत दक्षिण के परशुरामकल्पसूत्र के सिद्धान्तों से अत्यधिक मिलता है।
साधना की अन्तःप्रवाहित भावधारा ने देश और काल के व्यवधान को
नहीं माना।

हिन्दी में गोरखपन्थी साहित्य बहुत थोड़ा मिलता है। मध्ययुग
में मत्स्येन्द्रनाथ एक ऐसे युगसन्धिकाल के आचार्य हैं कि अनेक सम्प्र-
दाय उन्हें अपना सिद्ध आचार्य मानते हैं। हिन्दी की पुस्तकों में इनका
नाम 'मछन्दर' आता है। परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों में इसका 'शुद्धीकृत'
संस्कृत रूप ही मिलता है। वह रूप है 'मत्स्येन्द्र', परन्तु साधारण
योगी मत्स्येन्द्र की अपेक्षा 'मच्छन्दर' नाम ही ज्यादा पसन्द करते
हैं। श्रीचन्द्रनाथ योगी जैसे शिक्षित और सुधारक योगियों को इन
अशिक्षितों' की यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं लगी है। (योगिसम्प्रदाया-
विष्कृति, पृ० ४४८-९)। परन्तु हाल की शोधों से ऐसा लगता है कि
'मच्छन्दर' नाम काफी पुराना है और शायद यही सही नाम है।
मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छन्द) की लिखी हुई कई पुस्तकें नेपाल दरबार
लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उनमें से एक का नाम है कौलज्ञान-निर्णय।
इसकी लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री
ने अनुमान किया था कि यह पुस्तक सन् ईसवी की नवीं शताब्दी की
लिखी हुई है (नेपाल सूचीपत्र द्वितीय भाग, पृ० १९)। हाल ही में
डा० प्रबोधचन्द्र बागची महोदय ने उस पुस्तक की मत्स्येन्द्रनाथ की

अन्य पुस्तकों (अकुलवीरतन्त्र, कुलानन्द और ज्ञानकारिका) के साथ सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इस पुस्तक की पुष्पिका में मच्छघ्न, मच्छन्द आदि नाम भी आते हैं। परन्तु लक्ष्य करने की बात यह है कि शैव दार्शनिकों में श्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने भी मच्छन्द नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझाकर उसकी व्याख्या भी की है। उनके मत से आतानवितान वृत्त्यात्मक जाल को बताने के कारण मच्छन्द कहलाए (तन्त्रलोक, पृ० २४) और तन्त्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी से मिलता-जुलता एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार मच्छ चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं। उन चपल वृत्तियों का छेदन किया था। इसीलिए वे मच्छन्द कहलाए। कबीरदास के सम्प्रदाय में आज भी मत्स्य, मच्छ आदि का सांकेतिक अर्थ मन समझा जाता है (देखिये कबीर बीजक पर विचारदास की टीका, पृ० ४०)। यह परम्परा अभिनव गुप्त तक जाती है। उसके पहले भी नहीं रही होगी, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है। अधिकतर प्राचीन बौद्ध सिद्धों के पदों से इस प्रकार के प्रमाण संग्रह किये जा सकते हैं कि प्रज्ञा ही मत्स्य है (जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, जिल्द २६, १९३० ई०, नं० १ : टुची का प्रबन्ध)। इस प्रकार यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि मत्स्येन्द्रनाथ की जीवितावस्था में रूपक के अर्थ में उन्हें मच्छन्द कहा जाना नितान्त असंगत नहीं है। इन छोटी-छोटी बातों से पता चलता है कि उन दिनों की ये धार्मिक साधनाएँ कितनी अन्तःसम्बद्ध हैं।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि भक्ति-साहित्य का अध्ययन अब भी बहुत उथला ही हुआ है। सगुण और निर्गुणधारा के अध्ययन से ही मध्ययुग के मनुष्य को अच्छी तरह समझा जा सकता है। भगवत्-प्रेम मध्ययुग की सबसे जीवन्त प्रेरणा रही है। यह भगवत्-प्रेम इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं है और मन और बुद्धि के भी अतीत समझा गया है। इसका आस्वादन केवल आचरण द्वारा ही हो सकता है।

तक वहां तक नहीं पहुंच सकता, परन्तु फिर भी इस तत्त्व को अनुमान के द्वारा समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है और उन आचरणों की तो विस्तृत सूची बनाई गई है, जिनके व्यवहार से इस अपूर्व भागवत रस का आस्वादन हो सकता है। आगमों में से बहुत कम प्रकाशित हुए हैं। भागवत के व्याख्यापरक संग्रह-ग्रन्थ भी कम ही छपे हैं। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को आश्रय करके भक्ति-शास्त्र का जो विपुल साहित्य बना है, उसकी बहुत कम चर्चा हुई है। इन सबकी चर्चा हुए बिना और इनको जाने बिना मध्ययुग के मनुष्य को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

तान्त्रिक आचारों के बारे में हिन्दी-साहित्य के इतिहास की पुस्तकें एकदम मौन हैं, परन्तु नाथमार्ग का विद्यार्थी आसानी से उस विषय के साहित्य और आचारों की बहुलता लक्ष्य कर सकता है। बहुत कम लोग जानते हैं कि कबीर द्वारा प्रभावित अनेक निर्गुण सम्प्रदायों में अब भी वे साधनाएं जी रही हैं जो पुराने तान्त्रिकों के पंचामृत, पंच-पवित्र और चतुश्चन्द्र की साधनाओं के अवशेष हैं। यहां प्रसंग नहीं है। इसलिए इस बात को विस्तार से नहीं लिखा गया; परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हमारे इस साहित्य के माध्यम से मनुष्य को पढ़ने के अनेक मार्गों पर अभी चलना बाकी है।

कबीरदास के बीजक में एक स्थान पर लिखा है कि "ब्राह्मन वैस्नव एकहि जाना" (१२वीं ध्वनि)। इससे ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण और वैष्णव परस्पर-विरोधी मत हैं। मुझे पहले-पहल यह कुछ अजीब बात मालूम हुई। ज्यों-ज्यों मैं बीजक का अध्ययन करता गया, मेरा विश्वास दृढ़ होता गया कि बीजक के कुछ अंश पूर्वी और दक्षिणी बिहार के धर्ममत से प्रभावित हैं। मेरा अनुमान था कि कोई ऐसा प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णव सम्प्रदाय उन दिनों उस प्रदेश में अवश्य रहा होगा, जिसे ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते होंगे। श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने उड़ीसा के पांच वैष्णव कवियों की रचनाओं के

अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि ये वैष्णव कवि वस्तुतः माध्यमिक मत के बौद्ध थे और केवल ब्राह्मण-प्रधान राज्य के भय से अपने को बौद्ध कहते रहे। मैंने अपनी नई पुस्तक 'कबीरपंथी साहित्य' में विस्तार-पूर्वक इस बात की जांच की है। यहां प्रसंग केवल यह है कि हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन अनेक लुप्त और सुप्त मानव-चिन्ता-प्रवाह का परिचय दे सकता है। केवल पुस्तकों की तिथि-तारीख तक ही साहित्य का इतिहास सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। मनुष्य-समाज बड़ी जटिल वस्तु है। साहित्य का अध्ययन उसकी अनेक गुत्थियों को सुलझा सकता है।

परन्तु इन सबसे अधिक आवश्यक हैं विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और साधारण जनता में प्रचलित दन्तकथाएँ। इनसे हम इतिहास के अनेक भूले हुए घटना-प्रसंगों का ही परिचय नहीं पायेंगे, मध्ययुग के साहित्य को समझने का साधन भी पा सकेंगे। झारखंड और उड़ीसा तथा पूर्वी मध्यप्रान्त की अनेक लोक-प्रचलित दन्तकथाएँ उन अनेक गुत्थियों को सुलझा सकती हैं, जो कबीरपन्थ की बहुत गूढ़ और दुरूह बातें समझी जाती हैं। इस ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। विभिन्न आंकड़ों और नृतत्त्वशास्त्रीय पुस्तकों में इतस्ततोविक्षिप्त बातों का संग्रह भी बहुत अच्छा नहीं हुआ है। ये सभी बातें हमारे साहित्य को समझने में सहायक हैं। इनके बिना हमारा साहित्यिक इतिहास अधूरा ही रहेगा।

: १२ :

संस्कृत का साहित्य

संस्कृत-साहित्य से हम क्या सीख सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है। संस्कृत का साहित्य इतना विशाल है कि उसके समूचे रूप को ध्यान में रखकर कोई उत्तर देना आसान नहीं। लगभग छः हजार वर्षों से पन्द्रह लाख वर्ग मील में बसे हुए करोड़ों मनुष्यों ने कई पीढ़ियों तक इस साहित्य का सर्जन किया है और आज भी यह क्रिया बन्द नहीं हुई है। 'साहित्य' शब्द अपने व्यापक अर्थ में जिन विषयों का ज्ञान कराता है, वे सब-के-सब इस साहित्य में विद्यमान हैं। संसार में इतने दीर्घकाल तक बनने वाला और इतने विशाल जन-समूह को आन्दोलित करने वाला शायद दूसरा साहित्य नहीं है। इसीलिए इसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में जल्दी में कुछ कह देना अनुचित है।

बहुत प्राचीन काल से ही संस्कृत-साहित्य के दो मोटे विभाग कर लिए गए हैं: (१) वैदिक और (२) लौकिक। सन् ईसवी के आरम्भ के कुछ आगे और कुछ पीछे तक का काल भारतीय इतिहास में बड़ा उथल-पुथल का समय है। इन दिनों यवन, शक, ऋषिक, तुखार, हूण आदि विदेशी लुटेरे और आक्रामक बार-बार उत्तरी सीमान्त पर आक्रमण करते रहे और कुछ काल के लिए उत्तर-भारत का जीवन-क्रम विक्षुब्ध और अस्तव्यस्त होता रहा। सन् ईसवी के आरंभ के

लगभग सवा दो सौ वर्ष बाद मगध का प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र चार सौ वर्षों की गाढ़ निद्रा के बाद एकाएक जाग उठा। इन्हीं दिनों चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसका विवाह प्रसिद्ध लिच्छवि वंश की राजकुमारी से हुआ था, प्रबल पराक्रम के साथ आक्रमणकारियों की बाढ़ रोकने में समर्थ हुआ। उसके पुत्र समुद्रगुप्त और पौत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने इस बाढ़ के मूल को ही दुर्बल बना दिया। चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक फैल गया। इस नूतन जागरण ने भारतीय जन-समूह में नवीन राष्ट्रीयता और विद्या प्रेम का बीज बोया।

इस युग में राज-कार्य से लेकर समाज, धर्म और साहित्य तक में एक अद्भुत क्रान्ति का परिचय मिलता है। ब्राह्मण धर्म और संस्कृत-भाषा एकदम नवीन प्राण लेकर जाग उठे। पुराने क्षत्रपों द्वारा व्यवहृत प्रत्येक शब्द का मानो उद्देश्य के साथ बहिष्कार कर दिया गया। कुषाणों द्वारा समर्थित गांधार-शैली की कला एकाएक बन्द हो गई और संपूर्णतः स्वदेशी मूर्ति-शिल्प और वास्तु-शिल्प की प्रतिष्ठा हुई। राजकीय पदों के नाम नए सिरे से एकदम बदल दिये गये। समाज और जाति की व्यवस्था में भी परिवर्तन किया गया, इस बात का भी सबूत मिलता है। सारा उत्तरी भारत जैसे एक नया जीवन लेकर नई उमंग के साथ अवतरित हुआ। इस काल से भारतीय चिन्तास्रोत एकदम नई दिशा की ओर मुड़ता है। साहित्य की चर्चा करने वाला कोई भी व्यक्ति इस नये घुमाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। जिन दो-तीन सौ वर्षों की ओर शुरू में इशारा किया गया है, उनमें भारतवर्ष में शायद विदेशी जातियों के एकाधिक आक्रमण हुए थे; प्रजा संत्रस्त थी, नगरियां विध्वस्त हो गई थीं। जनपद आग की लपटों के शिकार हुए थे। कालिदास ने अयोध्या की दारुण दीनावस्था दिखाने के बहाने ही गुप्त-सम्राटों के पूर्ववर्ती काल की समृद्ध नगरियों की जो दुर्दशा हुई थी, उसका अत्यन्त हृदय-विदारक चित्र खींचा है। शक्तिशाली

राजा के अभाव में नगरियों की असंख्य अट्टालिकाएं भग्नजीर्ण और पतित हो चुकी थीं, उनके प्राचीर ढह गए थे और दिनान्त-कालीन प्रचण्ड आंधी से विध्वस्त मेघपटल की भाँति वे श्रीहीन हो गये थे। उसी छिन्न-भिन्न नष्टप्राय भारतवर्ष में गुप्त-सम्राटों ने नए प्राण की प्रतिष्ठा की थी। इस युग का साहित्य उस नवीनता का प्रत्यक्ष साक्षी है। नाना उत्थान-पतनों के आवर्त में भारतवर्ष का बहुत-कुछ खो गया था, बहुत-कुछ नया प्राप्त हुआ था। उस समूचे का परिचायक साहित्य ही लौकिक संस्कृत का साहित्य है।

सन् १८८२ में सिविल सर्विस के अंग्रेज विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देते हुए प्रो० मैक्समूलर ने इस वैदिक साहित्य का एक शब्द में बड़ा सुन्दर परिचय दिया था। वह शब्द है अतीत, परे (Trans; cendent, beyond) "उससे उस सांत जगत की बात कहो, वह कहेगा, अनन्त के बिना सांत जगत् निरर्थक है, असम्भव है। उससे मृत्यु की बात कहो, वह इसे जन्म कह देगा। उससे काल की बात कहो, वह इसे सनातन तत्व की छाया बता देगा। हमारे (यूरोपियनों) के निकट इन्द्रिय साधन है। शस्त्र हैं, ज्ञानप्राप्ति के शक्तिशाली इंजन हैं, किन्तु उसके (वैदिक युग के कवि के) लिए अगर सचमुच धोखा देने वाले नहीं तो कम-से-कम सदा ही जबर्दस्त बन्धन हैं; आत्मा की स्वरूपोपलब्धि में बाधक हैं। हमारे लिए यह पृथ्वी, यह आकाश, यह जीवन, यह जो हम देख सकते हैं और हम छू सकते हैं और जो हम सुन सकते हैं, निश्चित है, ध्रुव है। हम समझते हैं, यही, यहीं हमारा घर है, यहीं हमें कर्त्तव्य करना है, यहीं हमें सुख-सुविधा प्राप्त है; लेकिन उसके लिए यह पृथ्वी एक ऐसी चीज है जो किसी समय नहीं थी और ऐसा भी समय आवेगा जब यह नहीं रहेगी। यह जीवन एक छोटा-सा सपना है, जिससे शीघ्र ही हमारा छुटकारा हो जायगा, हम जाग जायेंगे। जो वस्तु औरों के निकट नितान्त सत्य है, उससे अधिक असत्य उसके निकट और कुछ है ही

नहीं और जहां तक उसके घर का सम्बन्ध है, वह निश्चित जानता है कि वह चाहे और जहां कहीं भी हो, इस दुनिया में नहीं है।" संक्षेप में वैदिक साहित्य का यही परिचय है। लौकिक संस्कृत का साहित्य बनते समय ये विचार दृढ़ भाव से प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। कर्मफल अवश्य मिलेगा, मनुष्य का जीवन यहीं तक समाप्त नहीं होता। उसका आत्मा सनातन है। किए का फल भोगना पड़ता है। इस जन्म में नहीं तो उस जन्म में। उसमें भी नहीं तो और आगे; परन्तु यह हिसाब यहीं चुक नहीं जाता।

आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार क्रिया-काण्ड आदि में सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्य की अमिट छाप है। जो पुराण और स्मृतियां निस्संदिग्ध रूप से आज प्रमाण मानी जाती हैं, वे अन्तिम तौर पर गुप्त काल में ही सम्पादित हुई थीं। जो काव्य और नाटक गुप्त-काल में रचे गए थे वे आज भी भारतवर्ष का चित्त हरण किए हुए हैं। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए थे, वे आज भी भारतीय चिन्तास्रोत को बहुत कुछ गति प्रदान कर रहे हैं। आज गुप्तकाल के पूर्ववर्ती शास्त्र और साहित्य को भारतवर्ष केवल श्रद्धा और भक्ति से पूजा भर सकता है, व्यवहार के लिए उसने गुप्त-काल के निर्धारित ग्रन्थों को ही स्वीकार किया है। गुप्त-युग के बाद भारतीय मनीषा की मौलिकता भोथरी हो गई। टीकाओं और निबन्धों का युग शुरू होगया। टीकाओं की छः-छः आठ-आठ पुश्त तक चलती रहीं। आज जब हम किसी विषय की आलोचना करते समय अपने यहां के शास्त्रों की दुहाई देते हैं तो अधिकतर इसी काल के बने ग्रंथों की ओर इशारा करते हैं। यद्यपि गुप्त सम्राटों का प्रबल पराक्रम छठी शताब्दी में ढीला पड़ गया था, पर साहित्य के क्षेत्र में उस युग के स्थापित आदर्शों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में ईसा की नवीं शताब्दी तक चलता रहा।

संस्कृत-साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवहमान मानवचिन्तन का विराट स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे

जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। कितने संघर्षों के बाद मनुष्य-समाज ने यह रूप ग्रहण किया है! विशाल शत्रु-वाहिनी क्षुधित वृकराजि के समान इस महादेश में आई है, उसका प्रचण्ड प्रतापानल थोड़े ही दिनों में फेन बुद्-बुद् के समान विलीन हो गया है। बड़े-बड़े धर्ममत शाश्वत शान्ति का संदेश लेकर आए हैं और मनुष्य की दुर्बलताओं के आवर्त में न जाने किधर बह गए हैं। दुर्दान्त राजशक्तियां मेघ-घटा की भांति घुमड़ कर आई हैं और अचानक आए हुए प्रचण्ड वायु के झोंके से न जाने कहां विलीन हो गई हैं। संस्कृत-साहित्य हमें इतिहास की कठोर वास्तविकताओं के सामने खड़ा कर देता है। मनुष्य अन्त तक अजेय है, उसकी प्रगति रुक नहीं सकती। उतावली बेकार है। सब कुछ आज ही समाप्त नहीं हो जाता। चार दिन की शक्ति पर अभिमान करना व्यर्थ है।—"सब ठाठ पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेगा बनजारा!"

हम लोग आज अपने जल्दी में लिखे हुए उथले विचारों को छपा डालने के लिए हास्यास्पद ढंग से व्यग्र हो जाते हैं। कभी-कभी पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर कविता छपाने के लिए मजेदार लड़ाइयां भी हो जाती हैं। कवि लोग रुपये के बल पर काव्य-जगत् में यशस्वी होने का प्रयत्न करते भी देखे गए हैं। संस्कृत-साहित्य का इतिहास निर्मम वैरागी की भांति सावधान कर देता है कि यह सब बालिश (बच्चों का-सा) प्रयत्न है। दुर्बार काल-स्रोत सबको बहा देगा। सुनहले अक्षरों में छपी हुई पोथियां उस स्रोत के थपेड़ों को बर्दाश्त करने की शक्ति नहीं रखतीं। वही बचेगा, जिसे मनुष्यके हृदय का आश्रय प्राप्त होगा। कितने राजकवि विलीन होगए, कितने शौकीन नाटककार अन्तर्हित होगए। बच रहे हैं कालिदास और भवभूति, व्यास और वाल्मीकि, बाण और जयदेव। मनुष्य को काल के विस्तीर्ण मैदान को पार करना है। वह व्यर्थ का जंजाल ढोता नहीं चलेगा। बहुत-कुछ फेंक देगा, बहुत-कुछ गिर जायगा। बचेगा वही जो उसके हृदय के

रक्त से मिला हुआ होगा। ये लेख, ये पत्रिकाएँ, ये सुनहरी पोथियाँ सब दिल बहलाने के बाल-प्रयत्न हैं। इनके लिए झगड़ना भी बाल-प्रयत्न ही है !

डाक्टर केर्न ने आश्चर्य के साथ लिखा है कि संस्कृत के ग्रन्थकारों को अपना परिचय छिपाने की विचित्र आदत है। न जाने कितनों ने अपनी अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तकों को देवताओं और ऋषियों के नाम लिख दिया है ! यूरोप में अपना नाम पुस्तक के साथ रख कर अमर होने की प्रवृत्ति हास्यास्पदता तक पहुँच गई थी। संस्कृत का साहित्य-कार इस माया को सहज ही काट सकता था। सूर्यसिद्धान्त का लेखक ज्योतिष का अद्भुत पण्डित था, परन्तु उसका नाम हमें नहीं मालूम। आज के हिन्दी लेखक कुछ इस बात से सीख सकते हों तो बहुत बुरा नहीं होगा। संस्कृत का लेखक वक्तव्य वस्तु के प्रति अद्भुत संयम और निष्ठा का परिचय देता है। जब वह पराशर और वशिष्ठ के नाम पर पुस्तक लिखता है तो उसका कर्तव्य अत्यन्त पवित्र हो जाता है। वह किसी प्रकार इन नामों के साथ लघुता को नहीं जुड़ने देगा। इसलिए जान लड़ाकर वक्तव्य वस्तु का सर्वोत्तम देने का प्रयत्न करेगा। यही कारण है कि संस्कृत के समूचे साहित्य में हल्के भाव से किसी बात की चर्चा नहीं मिलेगी। संस्कृत कवि और ग्रंथकार के बन्धन अनेक हैं। उन समस्त बन्धनों के भीतर से स्वानुभूत सत्य को प्रकाशित करने के लिए कठोर संयम और मानसिक अनुशासन की आवश्यकता थी। संस्कृत के विशाल भण्डार में जितने ग्रंथ हैं उनमें से प्रत्येक के लेखक ने इन गुणों का परिचय दिया है। अध्ययन को पुराना भारतीय पवित्र तप माना करता था। शायद समूचे जगत् के आधुनिक साहित्यकार इस विषय में संस्कृत लेखक से कुछ-न-कुछ अवश्य सीख सकते हैं।

संस्कृत ग्रन्थकार ने अपने युग के समस्त ज्ञान-विज्ञान को अपनी भाषा में ले आने का प्रयत्न किया था। 'म्लेच्छ' समझ कर जिन्हें वह

कोई भी सम्मान नहीं दिया करता था, उन लोगों के पास भी यदि कोई काम की चीज मिल गई तो वह लेने में नहीं हिचकता था। यवनों (ग्रीकों) को वह म्लेच्छ समझता था, पर चूँकि ज्योतिष-शास्त्र का उन्हें अच्छा ज्ञान था, इसलिए उन्हें ऋषिवत् पूज्य समझने में उसे कोई संकोच नहीं हुआ —

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु
सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते
किं पुनर्दैवविद्द्विजः।

अपने देश की प्राकृत-पाली आदि भाषाओं में जो कुछ श्रेष्ठ और रक्षणीय था उसे उसने बड़ी निष्ठा के साथ अपने भंडार में सुरक्षित किया। कुछ लोगों को भ्रम है कि बौद्ध, जैन आदि धर्मों की उत्तम पोथियाँ सस्कृत में नहीं हैं। यह ग़लत धारणा है। संस्कृत छाया, टीका, भाष्य आदि के रूपमें और मौलिक रूपमें भी, इन धर्मों के ग्रन्थों को संस्कृत में सुरक्षित किया गया है। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्त्सांग अपने साथ स्थविरवादी, महासांघिक, महीशास्त्रक आदि विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों के ५६३ ग्रन्थ अपने साथ चीन ले गए थे, जिनमें अधिकांश संस्कृत में लिखे । संस्कृत का साहित्यकार ज्ञान को अत्यन्त पवित्र वस्तु मानता है। उसे संयम और निष्ठा के साथ संकलन करने में उसे न संकोच है, न जल्दी है, न उतावली है, न दुविधा है। वह दृढ़ भाव से ज्ञान के अमृत का अन्वेषी है, क्योंकि उसके रोम-रोम में यह मंत्र रमा हुआ है —

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

"ज्ञान के समान पवित्र वस्तु कुछ भी नहीं है।"

संस्कृत का साहित्य वह उच्च गिरिशृङ्ग है, जिस पर चढ़ कर मनुष्य काल के सुदीर्घ स्रोत को बड़ी दूर तक देख सकता है। इस महानद के तट पर मनुष्य के उत्थान और पतन के अनेक चिन्ह दिखाई देते हैं।

जैसे नदी की प्रत्येक बूँद दूसरे को ठेल कर अविराम प्रवाह पैदा करती है—वैसे ही मनुष्य-जाति के अनेक व्यक्ति और व्यक्तिपुञ्ज इस मानव-प्रवाह को निरंतर आगे ठेलते गए हैं। संस्कृत का साहित्य हमें बताता है कि विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फेन बुद्-बुद् के समान कालस्रोत में उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं, साम्राज्य और धर्मराज्य उठते हैं और गिरजाते हैं, परंतु 'मनुष्य' फिर भी बचा रहता है। शताब्दियों की यात्रा से वह क्लान्त नहीं होता। चलना और आगे बढ़ना उसका स्वाभाविक धर्म है। इतिहास-विधाता की अज्ञात योजना का ठीक-ठीक स्वरूप हम नहीं जानते, पर संस्कृत का साहित्य उच्च स्वर से पुकार कर कहता है कि वह योजना मंगल की ओर अग्रसर हो रही है। युद्ध और विग्रह केवल उस जय-यात्रा में क्षणिक विक्षोभ भले ही पैदा कर दें, परन्तु उस मंगल-यात्रा को रोक नहीं सकते।

: १३ :

पुरानी पोथियाँ

इस देशमें दीर्घकालसे लिखनेकी प्रथा प्रचलित है। परन्तु जल-वायुकी अनुकूलता न होनेके कारण पोथियां बहुत दिनों तक नहीं टिक पातीं। यही कारण है कि इस देशमें बहुत पुराने ज़मानेकी लिखी पोथियां नहीं मिलतीं। फिर भी ऐसी पोथियां कम नहीं मिली हैं, जिनका नाना दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। साधारण जनता इनका महत्त्व नहीं जानती और इसीलिये बहुत-सी पोथियां नष्ट हो जाती हैं। पोथियों के संग्रह और उद्धारका कार्य अभी शुरू ही हुआ समझना चाहिए, फिर भी विदेशी तथा देशी विद्वानों ने अनेक ग्रंथोंका उद्धार किया है। इन पोथियों में से कुछेक अत्यन्त मूल्यवान पोथियों का पंसारियों की दूकानों से, गूदड़खानों के चिथड़ों से, क़बर खोदने वालों से और कभी-कभी सिगार के लिये पन्ना जलाते हुए सैनिकों से उद्धार किया गया है। अब भी देश के नाना भागों में नाना भाव से पुरानी पोथियां सड़ रही हैं। उनकी ओर जनता की दृष्टि का जाना नितान्त वाञ्छनीय है। श्री-निकेतन के ग्राम कार्य-कर्ताओं को एक बार एक उजाड़ घरमें से बहुत-से पुराने ताड़पत्रों का बंडल प्राप्त हुआ, जिसमें अनेक प्राचीन पुस्तकों के पन्ने थे। दुर्भाग्यवश इस बंडल का अधिकांश भाग सड़कर नष्ट हो चुका था। गांव के लोगों में पुरानी पोथियों के बारे में अनेक-अंध-विश्वास प्रचलित हैं। उनकी कहीं पूजा होती है और कहीं-कहीं

छूने में भी डर अनुभव किया जाता है।

अब तक हिन्दुस्तान की सबसे अधिक प्राचीन पुस्तकें जो मिली हैं, वे या तो भोजपत्र पर लिखी हुई हैं या तालपत्र पर। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि इस देश में काग़ज़ पर पुस्तकों के लिखने का प्रचलन बाद में हुआ है। कहा जाता है कि चीन वालों ने सन् १०५ ई० में पहले पहल काग़ज़ बनाया था। परन्तु उसके क़रीब साढ़े चार सौ वर्ष पहले का एक प्रमाण ऐसा भी मौजूद है, जिससे साबित होता है कि हिन्दुस्तानी लोग भी रुई के चिथड़ों को कूटकर काग़ज़ बनाया करते थे। सिकंदर के निआर्कस नामक सेनापति ने लिखा है कि हिन्दुस्तान के लोग रुई के चिथड़ों को कूटकर लिखने की चीज़ बनाते हैं। स्पष्टही यह चीज़ काग़ज़ रही होगी, पर कुछ युरोपियन पंडितों की व्याख्या यह है कि यह वस्तु काग़ज़ नहीं; बल्कि कपड़े का 'पट'-जैसी कोई चीज़ होगी, जो आज भी हिन्दुस्तान में कम नहीं बनती। परन्तु मैक्समूलर जैसे प्रामाणिक विद्वान् को यह व्याख्या नहीं जँची थी। उन्होंने निआर्कस के कथन का अर्थ काग़ज़ ही समझा था। वस्तुतः 'पट' रुई को कूटकर नहीं बनाया जाता, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि अभी तक कागज़ पर लिखी हुई कोई इतनी पुरानी प्रति नहीं मिली है, जिससे निस्सन्देह रूप से प्रमाणित किया जा सके कि निआर्कस के कथन का अर्थ कागज़ ही था। काग़ज़ पर लिखी सबसे पुरानी प्रति आज से लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष पहले की है।

वस्तुतः तालपत्र और भोजपत्र ही पुरानी पोथियों के लिखने की सामग्री रहे हैं। दोनों ही इस देश में मिलते हैं और रुई के काग़ज़ की अपेक्षा सहज ही उपलभ्य हैं और सस्ते भी होते हैं। इन दो साधनों की प्रचुरता और सुलभता के कारण काग़ज़ का बहुत अधिक प्रचार इस देश में नहीं हुआ था। पुरानी पोथियों में से अधिकांश भोजपत्र और ताड़ के पत्तों पर लिखी पाई गई हैं। सोने, चांदी और तांबे के पत्तरों पर भी अमीर लोग पुस्तकें लिखवाते थे,

पर वह केवल शौकीनी ही भर थी। हां, चमड़े पर, पटपर, काठ के पट्ट पर और सबसे बढ़कर पत्थरों पर लिखने की प्रथा भी कम नहीं थी। कालस्रोत ने अब केवल अन्तिम प्रकार के पुराने लेख बचने दिए हैं। सन् ईसवी की ९ वीं शताब्दी के बाद के सब प्रकार के ग्रंथ कुछ-न-कुछ मिल जाते हैं।

सन् १७८४ ई० में सर विलियम जोन्सने 'एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल' नाम की प्रसिद्ध साहित्य-सभा का संघटन किया था। तबसे पुरानी पोथियों का नये सिरे से अन्वेषण हुआ। कोलब्रुक नामक पंडित ने इस दिशा में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने १० हजार पौण्ड इस कार्य के लिये खर्च किए थे। तब से अनेक देशी और विदेशी विद्वान इस कार्य में जुट पड़े; परन्तु इस समस्त प्रयत्न का फल यह हुआ कि अधिकांश पुरानी पोथियां इस देश से हटकर युरोप के देशों को पहुंच गई। आज से लगभग आधी शताब्दी पहले आफ्रेख्ट नामक पंडित ने संस्कृत ग्रंथों की छपी और अनछपी सूचियों और खोज-रिपोर्टों के आधार पर संस्कृत की प्राप्त पोथियों का एक लेखा तैयार किया था। यह कार्य बड़े परिश्रम से किया गया था और यद्यपि आज यह बहुत पुराना पड़ गया है, फिर भी इसकी प्रामाणिकता में विश्वास किया जाता है। आफ्रेख्ट ने इंडिया आफ़िस के संग्रह के प्रसंग में कोलब्रुक, विल्किन्स, टेलर, गायकवाड़, जान्सन फ्लीट, वेलेन्टाइन, बर्नेल और मेकेंजी आदि प्रसिद्ध ग्रंथ-संग्राहकों की चर्चा की है। बाद में कीथने इन ग्रंथों का वर्गीकरण किया था। उन्होंने आफ्रेख्ट, बर्नेल, मेकेंजी, हडसन और टैगोर के संग्रह को ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझा था; परन्तु अन्य अनेक विद्वानों के संग्रह इनसे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं। नाना भाव से इन्हें संग्रह किया गया है। हिंदी-जगत् के सुपरिचित विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से बहुमूल्य ग्रंथों का संग्रह किया है, जो पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

इन पुस्तकों के संग्रह का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। बहुत-सी

पुस्तकें तो दाम देकर खरीदी गई हैं, कुछ विचित्र ढंग से प्राप्त हुई हैं। बर्नेलने लिखा है कि एक दीवानी मुक़द्दमे में लगभग ५ सौ पुरानी पोथियां प्रमाण के लिये नत्थी कर दी गई थीं। मैकेंज़ी मद्रास में भारत सरकार के सर्वेयर थे। सर्वे करने के प्रसंग में उन्हें बहुत-सी प्राचीन पोथियां मिल गई थीं। बावर पुरानी पोथियों के इतिहास के सिलसिले में अमर हो गए हैं। उनके नाम के साथ कुछ अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तकों का इतिहास जड़ित है। वे कुचमें ब्रिटिश रेज़िडेंट थे। सन् १८९० ई० में दो तुर्कों ने उन्हें भोजपत्र पर लिखी हुई कुछ पोथियां दिखाईं, जो उन्हें एक विध्वस्त बौद्धस्तूप में मिली थीं। बुद्धिमान् रेज़िडेंट ने उन्हें खरीद कर बंगाल की एशियाटिक सोसायटी को भेज दिया। सोसायटी की ओर से प्रसिद्ध पंडित हॉर्नेले ने इनकी जांच की तो ये चौथी-पांचवीं शताब्दी की साबित हुईं। इन पोथियों ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में क्रान्ति ला दी। बहुत-सी पुस्तकों का कालनिर्णय आसानी से हो गया। 'बावर मैनस्क्रिप्ट्स' संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक निश्चित सीमा-रेखा की ओर इशारा करते हैं। सन् १८८६ में जब उत्तरी बर्मा दखल किया गया तो वहां के राजप्रासाद के विशाल पुस्तकागार की पोथियों के पन्नों से सैनिक लोग सिगरेट जला रहे थे! प्रो० मियानेफ़ के अथक प्रयत्नों से यह अग्निकाण्ड समाप्त हुआ और कुछ पुस्तकें बचाई जा सकीं।

अब तक संस्कृत की सब से पुरानी पोथियां जो मिल सकी हैं, उनमें सर्वाधिक प्राचीन पुस्तक एक तालपत्र पर लिखी हुई है। पंडितों का अनुमान है कि इसकी लिखावट दूसरी शताब्दी की है। यह एक नाटक का कुछ त्रुटित अंश है। इसे डा० लूडर्स ने (कीलहार्न संस्कृत टेक्स्ट भाग १) छपवाया है। फिर 'संयुक्तागम' नामक बौद्ध-सूत्र है, जो भोजपत्र पर लिखा हुआ पाया गया है। यह डाक्टर स्टाईन को खोतान प्रदेश में मिला था। इसकी लिखावट से विद्वानों ने इसका लिपिकाल सन् ईसवी की चौथी शताब्दी माना है। सन् ईसवी की

पांचवीं शताब्दी की कुछ पोथियां ऐसी भी मिली हैं, जो काग़ज़ पर लिखी गई हैं। ये पुस्तकें यारकंद शहर से ६० मील दक्षिण में किसी स्थान से प्राप्त की गई हैं। संस्कृत की काग़ज़ पर लिखी हुई सबसे प्राचीन पुस्तकें यही बताई जाती हैं। इन तथा अन्य अनेक प्राचीन पुस्तकों से केवल पुस्तकोंकी तिथि निश्चय करने में ही सहायता नहीं मिली है, बल्कि अन्य अनेक बातों के अध्ययन में भी सहायता मिली है और पूर्ववर्ती इतिहासज्ञों की अनेक भ्रान्त धारणाओंका निराकरण भी हुआ है। इन पुस्तकों ने भारतवर्ष के साथ बाहरी दुनिया के संबंध-निर्णय में भी बहुमूल्य सहायता पहुंचाई है।

अंग्रेजों के इस देश में आने के पहिले एक प्रकार से प्राचीनतर विद्याओं के लिये अंधकार युग हो चला था। यहां के प्राचीन शास्त्रों के मर्मज्ञ सात-आठ सौ वर्षों तक की पुरानी लिपियों को यथाकथंचित् पढ़ लेते थे, परन्तु पुरानी लिपियों का पढ़ना एकदम भूल चुके थे। चौहदवीं शताब्दी में फिरोज़शाह तुगलक ने बड़े परिश्रम से टोपरा और मेरठ से अशोक के लेख वाले दो विशाल-स्तंभ उठवा मंगवाये थे, परन्तु उन दिनों उस लिपि को पढ़ने वाला कोई पंडित नहीं मिला। सम्राट् अकबर भी इन लेखों का आशय जानना चाहते थे, परन्तु भारतवर्ष से प्राचीन लेखों के पढ़ने की विद्या लुप्त ही हो गई थी। सर विलियम जोंस ने अशोक की लिपियों की छाप बनारस के तत्कालीन हाकिम के पास भेजी कि वहां के किसी पंडित से पढ़वाएं। एक पंडित ने उस लेख को युधिष्ठिर के गुप्त बनवास का लेख कहकर पढ़ दिया और पुरानी लिपियों की एक जाली पोथी भी तैयार कर दी! बहुत दिनों तक उस जाली पोथी ने शोधप्रिय पंडितों को गुमराह किया। सन् १८३४ ई० में कप्तान ट्रायर ने प्रयाग वाले अशोक-स्तंभ पर खुदे हुए समुद्रगुप्त के लेख का कुछ अंश पढ़ा, जिसे उसी साल डाक्टर मिल ने पूरा पढ़ लिया। गाजीपुर ज़िले में सैदपुर-भीतरी नामक गांव के पास एक स्तंभ है, जिस पर स्कन्दगुप्त ने एक लेख खुदवाया था।

सन् १८३७ ई० में डा० मिल ने उस समूचे लेख को पढ़ लिया था। इस प्रकार गुप्त-लिपि पढ़ ली गई। परन्तु ब्राह्मी-लिपि फिर भी दुर्बोध्य ही समझी जाती रही। जिस साल कप्तान ट्रायर और डाक्टर मिल ने गुप्त-लिपि पढ़ डाली थी, उसी साल जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी-लिपि को पढ़ने का कठिन प्रयत्न किया। उन्होंने इलाहाबाद, रधिया, मथिया और दिल्ली वाले लेखों को मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला कि ये चारों लेख एक ही लिपि के हैं। फिर उन्होंने गुप्त लिपि से मिलते अक्षरों को छांटा और ब्राह्मी लिपि के कई अक्षर पढ़ लिए। बाद में रेवरेण्ड जेम्स स्टीवेन्सन, लासन आदि पण्डितों की सहायता और उद्योग से पूरी ब्राह्मी वर्णमाला पढ़ी जा सकी। ब्राह्मी लिपि के पढ़े जाने के बाद भारतवर्ष की अन्य लिपियों का पढ़ना बहुत सुगम होगया। एक खरोष्ठी लिपि में जरूर समय लगा, परन्तु हमारे आज के प्रसंग से उस लिपि का बहुत थोड़ा ही सम्बन्ध है। इसलिए उसके बारे में हम विशेष कुछ नहीं कहेंगे। एक बार पुरानी लिपियों की जानकारी होते ही भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ जांची जाने लगीं। सिक्के पढ़े गए, शिला-लेख जांचे गए, पुरानी पोथियां पढ़ी गईं और दानपत्रों के रहस्य उद्घाटित हुए। प्रत्येक शताब्दी और प्रत्येक प्रदेश की लिपि-विषयक विशेषताएँ समझ ली गईं और यह सिलसिला आज भी चल रहा है। यद्यपि पुरानी लिपियों के पढ़ने वालों में विदेशी पंडितों का प्रयत्न ही प्रमुख रहा है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने देशी पंडितों की सहायता के बिना ही यह कठिन कार्य किया था। गुप्त-लिपि और ब्राह्मी-लिपि के पढ़ने में अनेक अज्ञात और विस्मृत देशी विद्वानों ने बहुमूल्य सहायता पहुँचाई थी।

भोजपत्र हिमालय प्रदेश में पैदा होने वाले 'भूर्ज' नामक वृक्ष की छाल है। इनकी उचाई कभी-कभी ६० फुट तक जाती है। हिमालय में साधारणतः १४००० फीट की ऊँचाई पर वे बहुतायत से पाए जाते हैं। इनकी छाल कागज की भांति होती है। इस छाल को लेखक लोग

अपनी इच्छानुसार लम्बाई-चौड़ाई का काटकर उस पर स्याही से लिखते थे। अब तो यह केवल यंत्र-मंत्र के काम ही आता है, पर किसी जमाने में काश्मीर तथा हिमालय प्रदेशों में भूर्जपत्र पर ही पोथियां लिखी जाती थीं। अधिकतर भूर्जपत्र की पुस्तकें काश्मीर से ही मिलती हैं। भोजपत्र की सब से पुरानी पुस्तक खरोष्टी लिपि में लिखा हुआ प्राकृत (पालीवाला नहीं) धम्मपद नामक प्रसिद्ध-ग्रंथ है, जो संभवतः सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी का है। सबसे पुरानी संस्कृत पुस्तक जो भोजपत्र पर लिखी मिली है, वह संयुक्तागम सूत्र है, जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। खरोष्ठी वाली पुस्तक का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वह खोतान से प्राप्त हुई थी। काश्मीर और उत्तरी प्रदेशों के सिवा अन्यत्र भूर्जपत्र की पोथियों का बहुत अधिक प्रचार नहीं था। निचले मैदानों में ताड़ के पत्ते प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते थे। वे भूर्जपत्र की अपेक्षा टिकाऊ भी होते हैं और सस्ते तो होते ही हैं। इसी लिये मैदानों में तालपत्र का ही अधिक प्रचार था।

तालपत्र को उबाल कर शंख या किसी अन्य चिकने पदार्थ से रगड़ कर उन्हें गेलहा जाता था। गेलहने के बाद लोहे की कलम से उन पर अक्षर कुरेद दिए जाते थे, फिर काली स्याही लेप दी जाती थी, जो गड्ढों में भर जाती थी और चिकने अंशपर से पोंछ दी जाती थी। लोहे की कलम से कुरेदने की यह प्रथा दक्षिणमें ही प्रचलित थी। उत्तर भारत और पूर्व भारत में उन पर उसी प्रकार लिखा जाता था, जिस प्रकार कागज पर लिखा जाता है। इन पत्तों का आकार कभी-कभी दो फीट तक होता है। शान्ति-निकेतन के संग्रहालय में दोनों प्रकार की प्रतियां संग्रहीत हैं। कुछ में केवल अक्षर कुरेद कर छोड़ दिए गए हैं, और कुछ में स्याही भरी गई है। संस्कृत में 'लिख्' धातुका अर्थ कुरेदना ही है। 'लिपि' शब्द तो लिखावट के लिये प्रचलित हुआ है, इसका कारण स्याही का लेपना ही है। इन पत्रों में लिखने की जगह के बीचोंबीच एक छेद हुआ करता था। यदि पत्रे बहुत लम्बे हुए तो दो छेद बनाए जाते

थे और इन छेदों में धागा पिरो दिया जाता था। बाद में कागज पर लिखी पोथियों में भी छेदके लिये जगह छोड़ दी जाती थी, जो वस्तुतः छिद्रित नहीं हुआ करती थी। सूत्र से ग्रथित होने के कारण ही पोथियों के लिये 'ग्रंथ' शब्द प्रचलित हुआ। भाषा में 'सूत्र मिलना' जो मुहावरा प्रचलित है, उसका मूल पोथियों के पन्नों को ठीक-ठीक संभाल रखने वाला यह धागा ही जान पड़ता है। हमने ऊपर तालपत्र की सबसे पुरानी पोथी की चर्चा की है। काशगर से कुछ चौथी शताब्दी के लिखे हुए तालपत्र के ग्रंथों के त्रुटित अंश भी उपलब्ध हुए हैं। सबसे मजेदार बात यह है कि तालपत्र की लिखी हुई जो दो पूरी पुस्तकें हैं, वे जापान के होरियूजि मठ में सुरक्षित हैं। इनके नाम हैं: 'प्रज्ञापारमिता हृदय सूत्र' और 'उष्णीश विजय-धारिणी।' इनकी लिखावट से अनुमान किया गया है कि ये पोथियां सन् ईसवी की छठी शताब्दी के आस-पास लिखी गई होंगी।

भूर्जपत्र और तालपत्रकी अपेक्षा भी अधिक स्थायी वस्तु पत्थर है। नाना प्रकार से पत्थरों पर लेख खोद कर इस देश में सुरक्षित रखे गए हैं। कभी-कभी बड़ी-बड़ी पोथियां भी चट्टानों पर और भित्तिगात्रों की शिलाओं पर खोदी गई हैं। बहुत-सी महत्त्वपूर्ण पोथियों का उद्धार सिर्फ शिलालिपियों से ही हुआ है। अशोक के शिला-लेख तो विख्यात ही हैं। बहुत पुराने जमाने में भी पर्वत-शिलाओं पर उट्टङ्कित ग्रन्थों से क्रान्तिकारी परिणाम निकले हैं। काश्मीर का विशाल अद्वैत शैव मत जिस 'शिव-सूत्र' पर आधारित है, वह पर्वत की शिला पर ही उट्टङ्कित था। शिलागात्रों पर उत्कीर्ण लिपियों ने साहित्य के इतिहास की भ्रांत धारणाओं को भी दूर किया है। सन् १८८३ ई० में मैक्समूलर ने अपना वह प्रसिद्ध मत उपस्थित किया था, जिसके आधार पर संस्कृत-साहित्य विषयक अनेक जल्पनाएं प्रतिष्ठित हुई थीं। इस मत के अनुसार शकों, यवनों और पार्थियनों द्वारा बार-बार आक्रान्त होते रहने के कारण कुछ समय के लिये संस्कृत-साहित्य का बनना एकदम बंद हो गया था।

बाद में चल कर गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में उसे फिर से नया जीवन मिला और उसमें ऐहिकतापरक स्वर सुनाई देने लगा। इस मत को महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार वाले लेख ने एकदम निरस्त कर दिया। इस लेख से निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो गया कि सन् १५०ई० के पूर्व संस्कृत में सुन्दर अलंकृत गद्यकाव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख ही गद्य-काव्य का एक उत्तम नमूना है। इसमें महाक्षत्रप ने अपने को 'स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य'-का मर्मज्ञ बताया था। सम्राट् समुद्रगुप्त ने प्रयाग के स्तंभ पर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवाई थी वह भी पद्य और गद्य काव्य का उत्तम नमूना है। हरिषेण ने इसे संभवतः ५३० ई० में लिखा होगा। अब तो सैकड़ों ललित काव्य और कवियों का पता इन शिला-लिपियों से चला है। इन काव्यात्मक प्रशस्तियों के अनेक संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं।

इस प्रसंग में राजा भोज के अपने प्रासाद भोजशाला से उद्धार की गई एक नाटिका और एक प्राकृत काव्य की चर्चा मनोरञ्जक होगी। इस भोजशाला की सरस्वती कंठभरण नामक पाठशाला आजकल धार की कमालमौला मस्जिद के नाम से वर्तमान है। सन् १९०५ ई० में एजुकेशनल सुपरिटेन्डेन्ट मिस्टर लेले ने प्रो० हुच को खबर दी कि धार की कमालमौला मस्जिद का मिहराब टूट गया है और उसमें से कई पत्थर खिसककर निकल आए हैं, जिन पर नागरी अक्षरों में कुछ लिखा हुआ है। इन पत्थरों को उलट कर इस प्रकार जड़ दिया गया था कि लिखा हुआ अंश पढ़ा न जा सके। जब पत्थर खिसक कर टूट गिरे तो उनका पढ़ना संभव हुआ। परीक्षा से मालूम हुआ कि दो पत्थरों पर महाराज भोज के वंशज अर्जुनदेव वर्मा के गुरु गौड़ पंडित मदन कवि की लिखी हुई कोई 'पारिजात-मंजरी' नामक नाटिका थी। नाटिका में चार अंक होते हैं। अनुमान किया गया कि बाकी दो अंक भी निश्चय ही उसी इमारत में कहीं होंगे; यद्यपि मस्जिद के हितचिंतकों के आग्रह से उनका पता नहीं चल सका। फिर कुछ पत्थरों पर स्वयं महाराज भोज

के लिखे हुए आर्या छंद के दो काव्य खोदे गए थे, जिनकी भाषा कुछ अपभ्रंश से मिली हुई प्राकृत थी। इस शिलापट की प्रतिच्छवि 'एपि-ग्राफिका इण्डिका' की आठवीं जिल्द में छपी है। चौहान राजा विग्रह के राज का 'हरकेलि नाटक' और सोमेश्वर कवि का 'ललित विग्रह राज' नामक नाटक भी शिलापट्टों पर खुदे पाए गए हैं।

एक सुन्दर काव्य एक पत्थर पर खुदा ऐसा भी पाया गया है, जो किसी शौकीन जमींदार की मोरियों की शोभा बढ़ा रहा था। यद्यपि अभी भी भारतवर्ष के अनेक शिला-लेख पढ़े नहीं जा सके हैं, तथापि नाना दृष्टियों से इन लेखों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण सहायता पहुँचाई है।

इस बात का प्रमाण प्राप्त है कि बहुत-सी पुस्तकें सोने और चांदी तथा अन्य धातु के पत्तरों पर लिखा कर दान कर दी गई थीं। मेरे मित्र प्रो० प्रह्लास प्रधान ने लिखा है कि कालक्रम से बौद्ध भिक्षुओं में यह विश्वास घट गया था कि पुरानी पोथियों को गाड़ देने से बहुत पुण्य होता है। ऐसी बहुत-सी गाड़ी हुई पोथियों का कुछ उद्धार इन दिनों हो सका है। हुएंत्साँगने लिखा है कि महाराज कनिष्क ने त्रिपिटक का नूतन संस्करण करा कर ताम्रपत्रों पर उन्हें खुदवा कर किसी स्तूप में गड़वा दिया था। अभीतक पुरातत्त्व-वेत्ता लोग इन गड़े ताम्रपत्रों का उद्धार नहीं करसके हैं। लङ्कामें कंडि जिलेमें हंगुरनकेत विहारके चैत्य में हजारों रुपयों की बहुमूल्य पुस्तकें और अन्य वस्तुएं गड़वा दी गई थीं। रौप्य पत्रपर विनय-पिटक के दो प्रकरण, अभिधम्म के सात प्रकरण और दीघ-निकाय तथा कुछ अन्य ग्रंथों को खुदवाकर गड़वाने में एक लाख बानवे हजार रुपये लगे थे। सोने के पत्तरों पर लिखे गए स्तोत्र आदि की चर्चा भी आती है। तक्षशिला के गंगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ एक सोने का पत्तर प्रसिद्ध खोजी विद्वान् जनरल कनिंघम को मिला था। बर्मा के ह्मोम नामक स्थान से पाली में खुदे हुए दो सोने के पत्तर

ऐसे मिले हैं, जिनकी लिपि सन् ई० की चौथी या पांचवीं शताब्दी की होगी। भट्टिप्रोलू के स्तूप से और तक्षशिला से भी चांदी के पत्तर पाए गए हैं। सुना है, कुछ जैन-मंदिरों में भी चांदी के पत्र पर खुदे हुए पवित्र लेख मिलते हैं, ताम्बे के पत्तरों पर तो बहुत लेख मिले हैं, परन्तु उन पर खुदी कोई बड़ी पोथी नहीं मिली है।

जैसे-जैसे भारतवर्ष में नवीन जागरण उत्पन्न हुआ है वैसे-वैसे पुरानी पोथियों के संग्रह करने और पढ़ने की ओर भी प्रवृत्ति बढ़ती गई है। काश्मीर, नेपाल, तिब्बत, केरल, तमिल आदि प्रदेशों से अनेक नूतन ग्रंथरत्नों का उद्धार हुआ है। कौटिल्य का प्रसिद्ध अर्थशास्त्र पाया जा सका है, टी० गणपति शास्त्री ने भास के नाटकों का उद्धार किया है, हरप्रसाद शास्त्री के परिश्रम से नेपाल दरबार लाईब्रेरी से अनेक ग्रंथ-रत्नों का पता चला है, मुकुन्दराम शास्त्री ने काश्मीर की ग्रन्थराशि को प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है, श्रेडर ने वैष्णव संहिताओं के अध्ययन की ओर विद्वन्मण्डली का ध्यान आकृष्ट किया है, वुडरफ के प्रयत्नों से तन्त्रग्रन्थों के अध्ययन को बल मिला है और राहुलजी ने तिब्बत से अनेक बहुमूल्य बौद्ध ग्रंथों का उद्धार किया है। अनेक परिश्रमी पंडितों और संस्थाओं ने प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान देशी भाषाओं के ग्रथों की भी खोज की है; परन्तु अब भी बहुत-सा कार्य बाकी है। अभी इस क्षेत्र में अनेक संभावनाएं हैं। चीनी, तिब्बती और मंगोलियन भाषाओं में भारतीय साहित्य का जो अनुवाद अब भी प्राप्त है, उसपर से मूल ग्रंथों के खोजने का काम अभी शुरू ही हुआ है। बृहत्तर भारत से इस सम्बन्ध की बहुत थोड़ी सामग्री उपलब्ध हुई है।

पुरानी पोथियों ने भारतीय मनीषा की उज्ज्वलता संसार के सामने निर्विवाद रूप से प्रकट कर दी है। भारतीय साहित्य संसार का उत्तम और अत्यन्त प्रेरणादायक साहित्य स्वीकार किया जा चुका है। इस साहित्य ने पिछले जमानों में लगभग सारे ज्ञात संसार को नाना भावसे

प्रभावित किया है और आज भी सभी सभ्य देशों में कुछ-न-कुछ विद्वान् ऐसे अवश्य हैं, जो इस साहित्य के पठन-पाठन से मनुष्यता के कल्याण का स्वप्न देखते हैं। इस विशाल साहित्य का अध्ययन स्फूर्तिदायक, मनोरंजक और आकाश का संदेशवाहक है।

: १४ :

काव्य-कला

काव्य भी एक कला है। यह बात बहुत तरह से कही जाती है, पर इसके अन्तर्निहित अर्थ पर विचार नहीं किया जाता। नीचे की पंक्तियों में यही प्रयास किया जा रहा है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कलाओं की गणना बौद्धपूर्व काल में प्रचलित थी ही, पर अनुमान से ऐसा निश्चय किया जा सकता है कि बुद्धकाल और उसके पूर्व भी कलामर्मज्ञता एक आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। ललित-विस्तर में केवल कुमार सिद्धार्थ को सिखाई हुई पुरुष-कलाओं की गणना ही नहीं है, ६४ काम-कलाओं का भी उल्लेख है[1]। और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय में कलाएँ नागरिक जीवन का आवश्यक अंग हो गई थीं। प्राचीन ग्रंथों में कलाओं के नाम पर ऐसी कोई विद्या नहीं जिसका उल्लेख न हो। बौद्ध ग्रंथों में इनकी संख्या निश्चित नहीं है; पर चौरासी शायद अधिक प्रचलित संख्या थी। जैन ग्रन्थों में ७२ कलाओं की चर्चा है; पर बौद्ध

---

१ चतुःषष्टि कामशलितानि चानुभषिया।
नूपुरयेखलाअभिहनीं विगलितवसनाः॥
कामशराहतास्समदनाः प्रहसितवदनाः।
किन्तव आर्यपुत्र विकृतिं यदि न भजसे॥
—ललितविस्तर पृ० ४१७।

और जैन दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रंथों में ६४ कलाओं की चर्चा प्रायः मिल जाया करती है। जैन ग्रंथों में इन्हें ६४ महिलागुण कहा गया है। कालिका-पुराण एक अर्वाचीन उप-पुराण है। सम्भवतः इसकी रचना विक्रम की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में आसाम प्रदेश में हुई थी। इस पुराण में कला की उत्पत्ति के विषय में यह कथा दी हुई है: ब्रह्म ने पहिले प्रजापति को और मानसोत्पन्न ऋषियों को पैदा किया और उस के बाद सन्ध्या नामक एक कन्या को जन्म दिया। इन लोगों के बाद ब्रह्मा ने सुप्रसिद्ध मदनदेवता को उत्पन्न किया, जिसे ऋषियों ने मन्मथ नाम दिया। इस देवता को ब्रह्मा ने वर दिया कि तुम्हारे बांके लक्ष्य से कोई बच नहीं सकेगा; इसलिए तुम अपनी इस त्रिभुवन-विजयी शक्ति से सृष्टि रचना में मेरी मदद करो। मदनदेवता ने वरदान और कर्त्तव्यभार दोनों को शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उन्होंने ब्रह्मा और सन्ध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि वे दोनों प्रेम-पीड़ा से अधीर हो उठे। उन्हीं के प्रथम समागम के समय ब्रह्मा के ४९ भाव, तथा सन्ध्या के विब्बोक आदि हाव और ६४ कलाएँ हुईं।[1] कला की उत्पत्ति का यही इतिहास है। कालिका-पुराण के अतिरिक्त किसी अन्य पुराण से भी यह कथा समर्थित है या नहीं, यह मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम; परन्तु इतना स्पष्ट है कि उक्त पुराण स्त्रियों की चौंसठ कलाओं का जानकार है।

श्रीयुत ए० वेंकट सुब्बैया ने भिन्न-भिन्न ग्रंथों का संग्रह करके कलाओं पर एक पुस्तिका प्रकाशित कराई है जो इस विषय के

---

१ उदीरितेन्द्रियो धाता वीक्षांचक्रे यदाथ ताम्।
तदैव ह्यूनपञ्चाशद् भावा जाताः शरीरतः।
विब्बोकाद्यास्तथा हावाश्चतुःषष्टिकलास्तथा।
कन्दर्पशरविद्धायाः सन्ध्याया अभवन्द्विजाः॥
—कालिकापुराण, २, २८-२९।

जिज्ञासुओं के बड़े काम की है। उक्त पुस्तिका में संग्रहीत कला-सूचियों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं, जिन में थोड़ी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष और राजनीति भी कला हैं; उचकना, कूदना, तलवार चलाना और घोड़े पर चढ़ना आदि भी कला हैं; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, बिंदुमती, प्रहेलिका भी कला हैं; स्त्रियों का शृङ्गार करना, कपड़ा रङ्गना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला हैं; रत्न और मणियों को पहचानना, घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेष, कुक्कुट का लक्षण जानना, चिड़ियों की बोली से शुभाशुभ का ज्ञान करना इत्यादि भी कला हैं; और तीतर-बटेर का लड़ाना, तोते का पढ़ाना, जुआ खेलना वगैरः भी कला ही हैं। प्राचीन ग्रंथों से जान पड़ता है कि कई कलाएँ पुरुषों के योग्य समझी जाती थीं, यद्यपि कभी-कभी गणिकाएँ भी उन कलाओं में पारङ्गत पाई जाती थीं। गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदि ऐसी ही कलाएँ हैं। कुछ कलाएं विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं; परन्तु सब मिला कर ऐसा जान पड़ता है कि ६४ कोमल कलाएँ स्त्रियों के सीखने की हैं और चूंकि पुरुष भी उनकी जानकारी रखकर ही स्त्रियों को आकृष्ट कर सकते हैं इसलिए स्त्री-प्रसादन के निमित्त उन्हें भी इन कलाओं की जानकारी होनी चाहिए। कामसूत्र में पंचाल की कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं, परन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची में काम-कलाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सुकुमार जानकारियों का भी सम्बन्ध है। उनमें लगभग एक-तिहाई तो विशुद्ध साहित्यक हैं, बाकी कुछ नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ा में सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक हैं। श्री० वेंकट सुब्बैया ने अपनी पुस्तिका में दस पुस्तकों से दस सूचियाँ संग्रह की हैं। इनमें यदि पंचाल और यशोधर की सूचियों को छोड़

---

१ कामसूत्र, १-३।

दिया जाय तो बाकी सभी में काव्य, आख्यायिका, समस्यापूर्ति आदि को विशिष्ट कला समझा गया है। श्री० सुब्बैया की गिनाई हुई सूचिय के अतिरिक्त भी ऐसी सूचियाँ हैं, जिनमें ६४ कलाओं की चर्चा है। सर्वत्र काव्यादि का स्थान है।

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आगे चल कर कला का अर्थ कौशल हो गया और भिन्न-भिन्न ग्रंथकार अपनी रुचि, वक्तव्य-वस्तु और संस्कार के अनुसार ६४ भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध काश्मीरी पंडित क्षेमेन्द्र ने कलाविलास नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जो काव्यमाला सीरीज (प्रथम गुच्छक) में छप चुकी है। इस पुस्तक में वेश्याओं की ६४ कलाएँ हैं, जिनमें अधिकांश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल हैं, कायस्थों की १६ कलाएँ हैं जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात ही प्रमुख है, गाने वालों की अनेक प्रकार की धनापहरण की कौशलमयी कलाएं हैं, सोना चुराने वाले सुनारों की ६४ कलाएं गिनाई गई हैं, गणकों की बहुविध धूर्तताएं भी कला के प्रसंग में ही गिनाई गई हैं और अन्तिम अध्याय में इन चौंसठ कलाओं की गणना की गई है, जिन्हें सहृदयों को जानना चाहिए। इन में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की बत्तीस तथा मात्सर्य-शील-प्रभाव-मान की बत्तीस कलाएं हैं। दस भेषज कलाएं हैं, जो मनुष्य के भीतरी जीवन को निरोग और निर्बाध बनाती हैं और अन्त में कलाकलाप में श्रेष्ठ सौ सार-कलाओं की चर्चा है। क्षेमेन्द्र की गिनाई हुई इन शताधिक कलाओं में काव्य समस्यापूर्ति आदि की चर्चा भी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने-अपने वक्तव्य को चौंसठ या अधिक कम भागों में विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बाद में साधारण नियम हो गया था, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषय में थी ही नहीं। चौंसठ की संख्या का घूम-फिर कर आ जाना ही यह सूचित करता है कि चौंसठ कलाओं की अनुश्रुति रही अवश्य होगी। जैन लोगों में ७२ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। साधारणतः वे पुरुष कलाएं हैं।

ऐसा लगता है कि चौंसठ की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में
साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायन की सूची में हैं।
कला का साधारण अर्थ उस में स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है और
उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति। निश्चय ही उसमें काव्य का स्थान
था। राज-सभाओं में काव्य आख्यायिका आदि के द्वारा सम्मान प्राप्त
किया जाता था और यह भी निश्चित है कि अन्यान्य कलाओं की अपेक्षा
साहित्यिक कलाएँ अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थीं। घटाओं, गोष्ठियों और
समाजों में, उद्यान-यात्राओं में, क्रीड़ाशालाओं में और युद्धक्षेत्र में भी
काव्यकला अपने रचयिता को सम्मान के आसन पर बैठा देती थी।

स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि वह काव्य कैसा होता था जो
राज-सभाओं में सम्मान दिला सकता था या गोष्ठी-समाजों में कीर्तिशाली
बना सकता था? सम्भवतः वह मेघदूत या कुमारसम्भव जैसे बड़े-बड़े
काव्य नहीं होते थे। वस्तुतः जो काव्य समाजों और सभाओं में मनो-
विनोद के साधन हुआ करते थे वे उक्ति-वैचित्र्य ही थे। दण्डी जैसे
आलंकारिकों ने स्वीकार किया है कि कवित्व शक्ति यदि क्षीण भी हो
तो भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति यदि काव्यशास्त्रों का अभ्यास करे तो वह
राज-सभाओं में सम्मान पा सकता है।[2] राजशेखर ने उक्ति विशेष को
ही काव्य कहा है। यहां यह स्पष्ट रूप से कह देना उचित है कि मेरे
कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्ध-काव्यों को उन दिनों
काव्य नहीं माना जाता था या उनके कर्ता सम्मान नहीं पाते थे, मेरा
वक्तव्य यह है कि काव्य नामक वह कला जो कवियों को गोष्ठियों

२ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानवंधि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवंकरोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततंद्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशेकवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥
—काव्यादर्श १, १०४-५

समाजों और राज-सभाओं में तत्काल सम्मान देती थी वह उक्ति वैचित्र्य-मात्र थी। दुर्भाग्यवश ऐसे सम्मानों के वे सब विवरण हमें उपलब्ध नहीं हैं, जिनका ऐतिहासिक मूल्य हो सकता था; पर आनुश्रुतिक परम्परा से जो कुछ प्राप्त होता है उससे हमारे वक्तव्य का समर्थन हो जाता है। यही कारण है कि पुराने अलंकार शास्त्रों में रस की उतनी परवाह नहीं की गई जितनी अलंकारों, गुणों और दोषों की। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था और अलंकारों का ज्ञान उक्ति-वैचित्र्य को अधिकाधिक आकर्षक बनाने में सहायक होता था। काव्य करना केवल प्रतिभा का विषय नहीं माना जाता था, अभ्यास को भी विशेष स्थान दिया जाता था। राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बताए हैं, (१) समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता और (२) अभ्यास अर्थात् बारम्बार परिशीलन करना। इन्हीं दोनों के द्वारा शक्ति उत्पन्न होती है। यह स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा न होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेषकर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभाव से पत्थर के समान है, किसी कष्टवश या व्याकरण के निरन्तर अभ्यासवश नष्ट हो चुका है या तर्क की आग से झुलस चुका है या सुकवि जन के प्रबन्धों को सुनने का मौका ही नहीं पा सका है। ऐसे व्यक्ति को तो कितना भी सिखाया जाय कवि नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि कितना भी सिखाओ गधा गान नहीं कर सकेगा और कितना भी दिखाओ अंधा सूर्य को नहीं देख सकेगा।[1] पहला उदाहरण प्रकृत्या जड़ का है और

१ यस्तु प्रकृत्याश्म समान एव कष्टे न वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकवि प्रबन्धैः॥
न तस्य वक्तृत्व समद्भवस्स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो जायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यतिनार्कमन्धः॥
—कविकण्ठाभरण १-२३।

दूसरा नष्ट साधन का। यह और बात है कि पूर्व जन्म के पुण्य से या मन्त्र-सिद्धि से कवित्व प्राप्त हो जाय या फिर इसी जन्म में साधना से प्रसन्न होकर सरस्वती कवित्व-शक्ति का वरदान दे दें (कविकण्ठाभरण १-२४)। परन्तु प्रतिभा थोड़ी बहुत आवश्यक है अवश्य। कवित्व सिखाने वाले ग्रंथों का यह दावा तो नहीं है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे; परन्तु वे यह दावा अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्ति में थोड़ी-सी भी शक्ति हो उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजों में कीर्ति पा ले।

यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो सहज ही समझ में आ जाता है कि उक्ति-वैचित्र्य को आलंकारिक आचार्यों ने इतना महत्त्व क्यों दिया है। उक्ति-वैचित्र्य वाद-विजय और मनोविनोद की कला है। भामह ने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलंकारों का मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य हो ही नहीं सकता। भामह की पुस्तक पढ़ने से यही धारणा होती है कि वक्रोक्ति का अर्थ उन्होंने कहने के विशेष ढंग को ही समझा था। वे स्पष्ट रूप से ही कह गए हैं कि "सूर्य अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने-अपने घोंसलों को जा रहे हैं।" इत्यादि वाक्य काव्य नहीं हो सकते; क्योंकि इन कथनों में कहीं भी वक्रभंगिमा नहीं है। दोष उनके मत से उस जगह होता है जहाँ वाक्य की वक्रता अर्थ-प्रकाश में बाधक होती है। भामह के बाद के आलंकारिकोंने वक्रोक्ति को एक अलंकारमात्र माना है किन्तु भामह ने उसे काव्य का मूल समझा था। दण्डी भी भामह के मतका समर्थन ही कर गए हैं, यद्यपि वे वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति समझा गए हैं। सिद्धान्ततः वक्रोक्ति को निश्चय ही बहुत दिनों तक काव्य का मूल समझा जाता रहा है, पर व्यावहारिक रूप में कभी भी काव्य केवल वक्रोक्ति-मूलक नहीं माना गया। उन दिनों भी रसमय काव्य लिखे जा रहे थे। परन्तु मैंने अन्यत्र (विश्व-भारती पत्रिका, खंड १, अंक १) दिखाया है कि उन दिनों रस का अर्थ

प्रधान रूप से श्रृङ्गार ही माना जाता था। सरस काव्य का अर्थ होता था श्रृङ्गारी काव्य। इस प्रकार यदि उक्ति-वैचित्र्य हुआ तब भी काव्य एक कला था; क्योंकि उससे राज-सभाओं और गोष्ठियों तथा समाजों में सम्मान मिलता था और सरस अर्थात् श्रृङ्गार ही हुआ तब भी वह कला ही था; क्योंकि वात्स्यायन की कलाओं का मूल उद्देश्य ऐसे काव्यों से सिद्ध होता था।

वक्रोक्ति काव्यका एकमात्र मूल है, यह सिद्धान्त सदियों तक साहित्य के अध्येताओं में मान्य रहा होगा, यद्यपि भिन्न-भिन्न आचार्य इससे भिन्न-भिन्न अर्थ समझते थे। नवीं या दसवीं शताब्दी में, इस सिद्धांत की बहुत ही महत्त्वपूर्ण और आकर्षक परिणति कुन्तक या कुन्तल नामक आचार्य के हाथों हुई। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर वक्रोक्ति की एक ऐसी व्यापक व्याख्या की कि वह शब्द काव्य के वक्तव्य को बहुत दूर तक समझाने में सफल हो गया। कुन्तक के मत का सारमर्म इस प्रकार है—केवल शब्द में भी कवित्व नहीं होता और केवल अर्थ में भी नहीं होता, शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य अर्थात् एक साथ मिल कर भाव प्रकाश करने के सामंजस्य में काव्य होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के साहित्य में एक विशिष्टता होनी चाहिए। जब कवि-प्रतिभा के बल पर एक वाक्य अन्य वाक्य के साथ एक विचित्र विन्यास में विन्यस्त होता है तब एक शब्द दूसरे से मिलकर रमणीय माधुर्य की सृष्टि करता है। उसी प्रकार तद्गर्भित अर्थ भी उसके साथ होड़ करके परस्पर को एक अद्भुत चमत्कार से चमत्कृत करते हैं। वस्तुतः ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलन और अर्थ के साथ अर्थ के मिलन से जो परस्पर स्पर्द्धिचारुता उत्पन्न होती है वही साहित्य है, वही काव्य है।

काव्य के बहुत से गुण-दोष-विवेचक ग्रंथ लिखे गए हैं; पर सभी लेखकों ने किसी वस्तु के उत्कर्ष निर्णय में सहृदय को ही प्रमाण माना है। अभिनवगुप्त के मत से सहृदय वह व्यक्ति हैं, जिनके मनरूपी मुकुर

में (मनोमुकुर जो काव्यानुशीलन से स्वच्छ हो गया होता है) वर्णनीय विषय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है। वे ही हृदय-संवाद के भाजन रसिक जन सहृदय कहे जाते हैं। परन्तु इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। हृदय-संवाद का भाजन कैसे हुआ जाता है? केवल शब्द और अर्थ की निरुक्ति जानने से यह दुर्लभ गुण नहीं उत्पन्न होता। प्रसिद्ध आलंकारिक राजानक रुय्यक ने 'सहृदयलीला' नामक अपनी पुस्तक में गुण अलंकार जीवित और परिकर के ज्ञान को सहृदय का आवश्यक गुण बताया है। गुण और अलंकार केवल काव्य के नहीं, वास्तविक मनुष्य के। इन गुणों और अलंकारादिकों को जानने से हम आसानी से समझ सकेंगे कि सहृदय किस प्रकार कला-सुकुमार हृदय का व्यक्ति होता था, और जो वस्तु उसे ही प्रमाण मानकर उत्कृष्ट समझी जायगी उसमें उन सभी गुणों का होना परम आवश्यक होगा, जिन्हें वात्स्यायन उत्तम नागरिक या रसिक के लिए आवश्यक समझते हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसा काव्य वात्स्यायन की कलाओं में एक कला मान लिया गया। सहृदयलीला के अनुसार गुण दस होते हैं—

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमो गुणाः॥

शरीर के अवयवों की रेखाओं की स्पष्टता को रूप कहते हैं, गौरता, श्यामता आदि को वर्ण कहते हैं, सूर्य की भाँति चमक वाली कान्ति को प्रभा कहते हैं, अधरों पर स्वाभाविक हँसी खेलते रहने के कारण सबकी दृष्टि को आकर्षित करने वाले धर्म-विशेष को राग कहते हैं, फूल के समान मृदुता और स्पर्श-सुकुमारता को आभिजात्य कहते हैं, अंगों और उपांगों से युवावस्था के कारण फूट पड़ने वाली विभ्रम-विलास नामक चेष्टाएं जिनमें कटाक्ष, भुजक्षेप आदि का समुचित योग रहता है, विलासिता कहलाती हैं, चन्द्रमा की भाँति आल्हादकारक वह सौन्दर्य का उत्कर्षभूत स्निग्ध मधुर धर्म जो अवयवों के उचित सन्निवेश-जन्य सुस्निग्धमा से व्यञ्जित होता है लावण्य कहा जाता है, अंगोपांगों की

असाधारण शोभा और प्रशस्तता का कारणभूत औचित्यमय स्थायी धर्म लक्षण कहा जाता है; वह सूक्ष्म भंगिमा जो ग्राम्यता के कारण अभि-मत्वख्यापिनी होती है अर्थात् बाह्य शिष्टाचार, विभ्रम-विलास और परिपाटी को प्रकट करती है, जिससे ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान, नृत्त-सुभाषित आदि में वक्ता का उत्कर्ष प्रकट होता है छाया कहलाती है; सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमें स्वभावतः वह रंजक गुण होता है, जिससे सहृदयजन स्वयमेव आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर आकृष्ट होते हैं, उसी प्रकार सुभग के आन्तरिक वशीकरण धर्म-विशेष को सौभाग्य कहते हैं। ये दस गुण विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं, ये जन्मान्तर के पुण्यफल से मिलते हैं। अलङ्कार सात ही हैं—

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डन द्रव्य योजने।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः सप्तैवैते मयामताः॥

वज्र, मुक्ता, पद्मराग, मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, कर्केतन, पुलक, रुधिराक्ष, भीष्म, स्फटिक, प्रवाल ये तेरह रत्न होते हैं। वराह-मिहिर की बृहत्संहिता में इनके लक्षण दिए हुए हैं। भीष्म के स्थान में उसमें विषमक पाठ है। शब्दार्थचिन्तामणि के अनुसार यह रत्न हिमालय के उत्तर प्रान्त में पाया जाने वाला कोई सफेद पत्थर है। बाकी के बारे में बृहत्संहिता (अध्याय ८०) देखनी चाहिए। हेम सोने को कहते हैं। प्राचीन ग्रंथ में यह नौ प्रकार का बताया गया है: जांबूनद, शातकौंभ, हाटक, वैणव, शृङ्गी, शुक्तिज, जातरूप, रसविद्ध और आकरोद्गत। इन तेरह प्रकार के रत्नों और नौ प्रकार के सोनों से नाना प्रकार के अलङ्कार बनते हैं। ये चार श्रेणियों के होते हैं—(१) आवेध्य, (२) निबन्धनीय, (३) प्रक्षेप्य और (४) आरोप्य। ताड़ी, कुण्डल, कान के बाले आदि अलङ्कार अंगों को छेद कर पहने जाते हैं, इसलिए आवेध्य कहलाते हैं; अङ्गद (बाहुमूल में पहना जाने वाला अलङ्कार) श्रोणी-सूत्र (करधनी आदि), चूड़ामणि प्रभृति बाँध कर पहने जाते हैं, इस लिए उन्हें निबन्धनीय कहते हैं; अर्भिका, कटक, मंजीर आदि अंग में

प्रक्षेप-पूर्वक पहने जाते हैं इसलिए उन्हें प्रक्षेप्य कहा जाता है; झूलती हुई माला, हार, नक्षत्रमालिका आदि अलङ्कार आरोपित किए जाने के कारण आरोप्य कहे जाते हैं। वस्त्र चार प्रकार के होते हैं, कुछ छाल से (क्षौम) कुछ फल से (कार्पास), कुछ रोओं से (रांकव) और कुछ कीटों के कोश से (कौशेय) बनते हैं। इन्हें भी तीन प्रकार से पहनने की प्रथा है—पगड़ी, धोती आदि निबन्धनीय हैं, चोली आदि प्रक्षेप्य हैं, उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य हैं। वर्ण और सजावट के भेद से ये नाना भांति होते हैं। सोने और रत्न से बने हुए अलङ्कारों की भांति माल्य के आवेध्य, निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य ये चार भेद होते हैं। प्रत्येक भेद में ग्रथित और अग्रथित रूप से दो-दो उपभेद हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर माल्य के आठ भेद होते हैं—वेष्टित, विस्तारित, संघास्य, ग्रंथिमत्, उद्वर्तित, अवलंबित, मुक्तक और स्तवक। कस्तूरी, कुंकुम, चन्दन, कपूर, अगुरु, कुलक, दन्तसम, पटवास, सहकार, तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अञ्जन, गोरोचना आदि से मण्डन द्रव्य बनते हैं। भ्रू घटना, केशरचना, जूड़ा बाँधना आदि योजनामय अलङ्कार हैं। प्रकीर्ण अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं (१) जन्य और (२) निवेश्य। श्रमजल, मदिरामद आदि जन्य हैं और दूर्वा, अशोक, पल्लव, यवांकुर, रजत, त्रपु, शंख, तालदल, दन्तपत्रिका, मृणालवलय, करक्रीड़नादिक निवेश्य हैं। इन सब के समवाय को वेश कहते हैं। यह वेश देशकाल की प्रकृति और अवस्था के सामंजस्य के अनुसार शोभनीय होता है। इनके उचित सन्निवेश से रमणीयता की वृद्धि होती है। परन्तु अलङ्कार इतने ही नहीं हैं। ये यत्नज अलङ्कार हैं। अंगज, अयत्नज और स्वभावज तीन अलङ्कार और होते हैं। भाव, हाव और हेला अंगज अलंकार हैं; शोभा कान्ति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये अयत्नज अलंकार हैं और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलंकार हैं। इनका लक्षण दशरूपक आदि ग्रंथों में देखना चाहिए। शोभा का

जीवित या प्राण यौवन है और निकट से उपकारक परिकर। इनका विस्तार रीति-ग्रंथों में मिलेगा।

इस प्रकार के सहृदय के चित्त को जो कविता तन्मय कर सके वह अवश्य ही वात्स्यायन की स्त्री-प्रसादिनी और वशीकारिणी कला में स्थान प्राप्त करेगी। वस्तुतः जिन दिनों काव्य को कला कहा गया था उन दिनों उसके इन्हीं दो गुणों का प्राधान्य लक्ष्य किया गया था : (१) उक्ति-वैचित्र्य और (२) सहृदय-हृदय रंजन। ज्यों-ज्यों अनुभव का क्षेत्र और विचार का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया त्यों-त्यों कला की परिभाषा भी व्यापक होती गई और काव्य का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता गया।

: १५ :

रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा बहुमुखी थी, परन्तु प्रधान रूप से वे कवि थे। कविता में भी उनका झुकाव 'गीति कविता की ओर ही था। उन्होंने गाने में आनन्द पाया, सुर के माध्यम से परम सत्य का साक्षात्कार किया और समस्त विश्व में अखण्ड सुर का सौन्दर्य व्याप्त देखा। एक प्रसंग में उन्होंने कहा था—"गान के सुर के आलोक में इतनी देर बाद जैसे सत्य को देखा। अन्तर में यह गान की दृष्टि सदा जाग्रत न रहने से ही सत्य मानों तुच्छ होकर दूर खिसक पड़ता है। सुर का वाहन हमें उसी पर्दे की ओट में सत्य के लोक में वहन करके ले जाता है। वहां पैदल चलकर नहीं जाया जाता, वहां की राह किसी ने आंखों नहीं देखी।" रवीन्द्रनाथ का सम्पूर्ण साहित्य संगीतमय है। उनकी कविताएं गान हैं; परन्तु उनके गान केवल ताल-सुर के वाहन नहीं हैं, अर्थगांभीर्य और शब्दमाधुर्य के भी आगार हैं। असल में जिस प्रकार उनकी कविताओं में संगीत का रस है उसी प्रकार, बल्कि इससे भी अधिक, उनके गानों में कवित्व है। सुर से विच्युत होने पर भी उनके गान प्रेरणा और स्फूर्ति देते हैं। उन्होंने सैकड़ों गान लिखे हैं। ये गान गाए जाने पर ही ठीक-ठीक समझे जा सकते हैं, परन्तु फिर भी उनको छापे के अक्षरों में पढ़ने पर भी कुछ-न-कुछ रस अवश्य मिलता है, क्योंकि उनका अर्थगांभीर्य वहां भी बना रहता है। रवींद्रनाथ

सुर की धारा में एक अपूर्व पावनी शक्ति अनुभव करते हैं। अपने परमाराध्य को पुकार कर वे कहते हैं—

'तुम्हारे सुर की धारा मेरे मुख पर और वक्षःस्थल पर सावन की झड़ी के समान झड़ पड़े। उदयकालीन प्रकाश के साथ वह मेरी आंखों पर झड़े, निशीथ के अन्धकार के साथ वह गंभीर धारा के रूप में मेरे प्राणों पर झड़े, दिन-रात वह इस जीवन के सुखों और दुःखों पर झड़ती रहे—तुम्हारे सुर की धारा सावन की झड़ी के समान झड़ती रहे। जिस शाखा पर फल नहीं लगते, फूल नहीं खिलते उस शाखा को तुम्हारी यह बादल-हवा जगा दे, मेरा जो कुछ भी फटा-पुराना और निर्जीव है, उसके प्रत्येक स्तर पर तुम्हारे सुरों की धारा झड़ती रहे, दिन-रात इस जीवन की भूख पर और प्यास पर वह सावन की झड़ी के समान झड़ती रहे'—

श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे
तोमारि सुरटि आमार मुखेर 'परे, बुकेर 'परे।
पूरवेर आलोर साथे झड़ुक प्राते दुइ नयाने—
निशीथेर अन्धकारे गभीर धारे झड़ुक प्राणे
निशिदिन एइ जीवनेर सुखेर 'परे दुखेर 'परे
श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे॥
ये शाखाय फुल फोटे ना फल धरे ना एकेबारे
तोमारि बादल बाये दिक् जागाये सेइ शाखारे।
या किछु जीर्ण आमार दीर्ण आमार जीवनहारा
ताहारि स्तरे स्तरे पड़ुक झरे सुरेर धारा
निशिदिन एइ जीवनेर तृषार 'परे भुखेर 'परे
श्रावणेर धारार मतो पड़ुक झरे पड़ुक झरे॥

इस प्रकार सुर की धारा रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में समस्त जीर्णता, वन्ध्यता, असफलता और क्षुद्र प्रयोजनों को बहाकर मनुष्य को सहज सत्य के सामने खड़ी कर देती है। निस्सन्देह संगीत ऐसी ही वस्तु है।

यह युग भारतवर्ष में राजनैतिक जागरण का युग है। रवीन्द्रनाथ ने किसी ज़माने में राजनैतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था। परन्तु बहुत शीघ्र ही उन्होंने देखा कि जिन लोगों के साथ उन्हें काम करना पड़ रहा है उनकी प्रकृति के साथ उनका मेल नहीं है। रवीन्द्रनाथ अन्तर्मुख साधक थे। हल्ला-गुल्ला करके, ढोल पीट के, गला फाड़ के, लेक्चरबाज़ी करके जो आन्दोलन किया जाता है वह उन्हें उचित नहीं जँचता था। देश में करोड़ों की संख्या में दलित, अपमानित, निरन्न, निर्वस्त्र लोग हैं, उनकी सेवा करने का रास्ता ठीक वही रास्ता नहीं है, जिसपर वाग्वीर लोग शासक-वर्ग को धमका कर चला करते हैं। शौक़िया ग्रामोद्धार करने वालों के साथ उनकी प्रकृति का एकदम मेल नहीं था। जो लोग सेवा करना चाहते हैं उन्हें चुप-चाप सेवा में ही लग जाना चाहिए। सेवा का विज्ञापन करना सेवा-भावना का विरोधी है। उन्होंने हल्ला-गुल्ला करके ग्रामोद्धार करने वालों को लक्ष्य करके गाया था—

ओरे तोरा
नेइ वा कथा ब'ल्लि !
दांड़िये हाटेर मध्यिखाने
नेइ जागालि पल्ली ॥
मरिस् मिथ्ये ब'के-झ'के,
देखे केवल हासे लोके,
ना हय निये आपन मनेर आगुन,
मने मनेइ ज्व'ल्लि —
नेइ जागालि पल्ली ॥
अन्तरे तोर आछे की—ये
नेइ रटालि निजे निजे,
ना हय, वाद्यगुलो बन्ध रेखे
चुपेचापेइ च'ल्लि—
नेइ जागालि पल्ली ॥

काज थाके तो कर् गे ना काज,
लाज थाके तो घुचा गे लाज,
आ,रे, के-ये तोरे की ब'लेछे,
नेइ् वा ता'ते ट'ल्लि—
नेइ् जागालि पल्ली ॥

"अरे भाई, क्या बिगड़ गया यदि तूने कोई बात नहीं कही। बाज़ार में खड़े होकर अगर तुमने ग्रामों को जगाने का काम नहीं ही किया तो क्या हो गया! बेकार बकवास करके मर रहे हो, देखकर लोग केवल हंसते हैं। अपने ही मन की आग से तुमने मन-ही-मन जल लिया तो क्या बुरा हुआ: क्या हुआ जो तुमने गांवों को नहीं जगाया! तुम्हारे मन में क्या है सो तुमने खुद-बखुद चिल्लाकर नहीं कहा तो क्या बिगड़ गया! न हो, ये बाजे बन्द करके और चुप-चाप ही चल दिए तुम!—अरे भाई, तुमने ग्रामोद्धार नहीं ही किया।

"यदि कुछ काम हो तो जाओ न उसे करो, यदि तुम्हारे भीतर कहीं लाज हो तो जाओ न सबकी लाज बचाओ। अरे भाई, किसने तुम्हें क्या कहा है, इस बात से तुम नहीं ही विचलित हुए तो क्या बिगड़ गया: न हुआ, तुमने ग्रामोद्धार नहीं ही किया!"

उनकी स्वदेशभक्ति उनकी भगवद्भक्ति की विरोधिनी नहीं थी। उनके ऐसे बहुत थोड़े गान हैं, जिन्हें निश्चित रूप से स्वदेशभक्ति के गान कहा जा सकता है, नहीं तो साधारणत: राष्ट्रीय गानों के रूप में प्रचलित उनका ऐसा शायद ही कोई गान हो जो भक्ति और साधना के अन्यान्य क्षेत्रों में व्यवहृत न हो सकता हो। उनकी समस्त साधनाओं का लक्ष्य एक ही आनन्दधाम भगवान् था। यदि किसी कार्य का उस के साथ विरोध है तो उसे उचित नहीं माना जाना चाहिए। उनका प्रसिद्ध उद्‌बोधन संगीत, जिसमें उन्होंने अकेले ही समस्त दुःखों को शिरसा स्वीकार करके अग्रसर होने की सलाह दी है, स्वदेशभक्ति ही तक सीमित नहीं है। वस्तुतः वह सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर

बढ़ने का आह्वान है। स्वदेशभक्ति उस महालक्ष्य की परिपंथिनी नहीं है। फिर वह यदि स्वदेश भक्ति का गान है तो ऐसा कोई देश नहीं, जिसके निवासी उसे गा न सकें। रवीन्द्रनाथ के सभी गान सार्वभौम हैं। उन्होंने साधक को पुकार के कहा है :

'यदि तेरी पुकार सुनकर कोई न आए तो तू अकेला ही चल पड़। अरे ओ अभागा, यदि तुझसे कोई बात न करे, यदि सभी मुंह फिरा लें, सब (तेरी पुकार से) डर जांय तो तू प्राण खोल कर अपने मन की वाणी अकेला ही बोल। अरे ओ अभागा, यदि सभी लौट जांय, यदि कठिन मार्ग पर चलते समय तेरी ओर कोई फिर कर भी न देखे तो तू अपने रास्ते के कांटों को अपने खून से लथपथ चरणों द्वारा अकेला ही रौंदता हुआ आगे बढ़। अरे ओ अभागा, यदि तेरी मशाल न जले और आंधी और तूफान से भरी अंधेरी रात में (तुझे देखकर) सब लोग दरवाजा बन्द कर लें तो फिर अपने को जला कर तू अकेला ही हृदय-पंजर जला। यदि तेरी पुकार सुनकर कोई तेरे पास न आए तो फिर अकेला ही चलता चल, अकेला ही चलता चल —

यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे
तबे एक्ला चलो रे।

एक्ला चलो, एक्ला चलो,
एक्ला चलो रे॥

यदि केओ कथा ना कय—
(ओरे ओरे ओ अभागा !)
यदि सबाइ थाके मुख फिराये,
सबाइ करे भय—
तबे पराण खुले,
ओ तुइ मुख फुटे तोर मनेर कथा,
एक्ला चलो रे॥
यदि सबाइ फिरे याय—

(ओरे ओरे ओ अभागा !)
यदि गहन पथे याओार काले
केउ फिरे ना चाय—
तबे पथेर कांटा
ओ तुइ रक्तमाखा चरण तले
एकला दलो रे ॥
यदि आलो ना धरे—
(ओरे ओरे ओ अभागा !)
यदि झड़ बादले आंधार राते
दुयार देय घरे—
तबे बज्रानले
आपन बुकेर पांजर ज्वालिये निये
एकला चलो रे ॥
यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे,
तबे एकला चलो रे।
एकला चलो, एकला चलो,
एकला चलो रे ॥

सत्यमार्ग के अनुसंधित्सुओं के लिए इतने स्फूर्तिदायक गान कम ही लिखे गए होंगे। रवीन्द्रनाथ ऐसे साथियों को भार मात्र समझते थे, जिनका अपने लक्ष्य पर विश्वास नहीं है। ऐसे लोगों को जुटाकर केवल संख्या गिनाने से कोई लाभ नहीं। जब विपत्ति से सामना पड़ेगा तभी ऐसे साथी बोझ हो जायंगे, वे खुद पीछे हटेंगे और दूसरों को भी परेशान करेंगे। साधना के क्षेत्र में—चाहे वह स्वदेश-सेवा की साधना हो, या परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने की—अधकचरे साथी बाधा ही हैं; क्योंकि साधना का क्षेत्र विपत्तियों से जूझने का क्षेत्र है। घर फूंक मस्त लोग ही इस रास्ते कदम उठा सकते हैं। कबीरदास ने कहा था कि मैं अपना घर जलाकर हाथ में लुकाठी लिए बाजार में खड़ा हूं, जो अपना

घर फूंक सके वही हमारे साथ चले—

कविरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूंके आपना, सो चले हमरे साथ ॥

यदि साधना के साथी मोहवश अपना सर्वस्व त्याग देने में ज़रा भी झिझके तो पतन निश्चित है। इसीलिये रवीन्द्रनाथ ने स्वदेश-सेवा के साधकों को पुकार कर गाया है :

"यदि भाई, तुझे कुछ चिन्ता-फिकिर है तो तू लौट जा। यदि तेरे मन में कहीं डर हो तो मैं शुरू में ही मना करता हूँ. कि इस रास्ते न चल। यदि तेरे शरीर में नींद लिपटी रहेगी तो तू पग-पग पर रास्ता भूल जायगा, यदि कहीं तेरा हाथ कांप गया तो मशाल बुझा कर तू सबका रास्ता अन्धकारमय कर देगा। यदि तेरा मन कुछ छोड़ना न चाहे और तू अपना बोझा बराबर बढ़ाता ही गया तो इस कठिन रास्ते की मार तू बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। यदि तेरे मन में अपने आप (भीतर से) आनन्द नहीं जगता रहेगा तो तर्क पर तर्क करके तू सब कुछ तहस-नहस कर देगा। ना भाई, यदि तुझे कुछ चिन्ता-फिकिर है तो तू लौट जा!" —

यदि तोर भावना थाके,
फिरे या ना—
तबे तुइ फिरे या ना।
यदि तोर भय थाके तो
करि माना ॥
यदि तोर घूम जड़िये थाके गाये,
भुल्बि-ये पथ पाये पाये,
यदि तोर हात कांपे तो निबिये आलो,
सबाय क'रबि काणा ॥
यदि तोर छाड़्ते किछु ना चाहे मन,
करिस् भारी बोझा आपन,

तवे तुइ सइते कभु पारिस ने रे
विषम पथेर टाना ॥
यदि तोर आपन ह'ते अकारणे
सुख सदा ना जागे मने,
तवे केवल, तर्क क'रे सकल कथा
क'रवि खाना-खाना ॥
यदि तोर भावना थाके० ॥

हो सकता है कि इस प्रकार अकेले ही सचाई के मार्ग पर चलने वाले लोग शुरू-शुरू में पागल कहने लगें। शुरू-शुरू में किस महापुरुष को लोगों ने पागल नहीं समझा है? किस महापुरुष ने निर्यातन नहीं सहा है? रवीन्द्रनाथ ने कहा :

"जो तुझे पागल कहे उसे तू कुछ भी मत कह। आज जो तुझे कैसा-कुछ समझकर धूल उड़ाता है वही कल प्रातःकाल हाथ में माला लिए तेरे पीछे-पीछे फिरेगा। आज चाहे वह मान करके गद्दी पर बैठा रहे; किन्तु कल (निश्चय ही)वह प्रेमपूर्वक नीचे उतर कर तुझे अपना शीश नवाएगा"—

ये तोरे पागल बले,
ता'रे तुइ बलिस्ने किछु।
आजके तोरे केमन भेवे
अङ्गे ये तोर धूलो देवे,
काल से प्राते माला हाते
आस्वे रे तोर पिछु पिछु ॥
आजके आपन मानेर भरे
थाक् से व'से गदिर 'परे,
काल् के प्रेमे आसवे नेमे,
क'र्वे से ता'र माथा नीचु ॥

सचाई होनी चाहिए। सत्य प्रकाशधर्मा है, वह छिपा कर रोक नहीं

रखा जा सकता। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो समझते हैं कि प्रत्येक नया विचार सनातन प्रथा को बर्बाद कर देगा, संस्कृति को रसातल में पहुँचा देगा। इतिहास साक्षी है कि ऐसा करने वालों का प्रयत्न कभी सफल नहीं हुआ। मनुष्य ने इतिहास से कितना कम सीखा है! सम्पत्ति-मद से मत्त लोग दो दिन आगे की बात भी नहीं देख पाते। वे अपनी शक्ति पर जितना भरोसा रखते हैं उसका आधा भी उन पर नहीं रखते, जिनकी कणमात्र शक्ति पाकर वे अपने को शक्तिशाली समझा करते हैं। वे समझते हैं कि उनके हुक्मों पर ही संसार-धारा रुक जायगी। वे पद-पद पर 'ऐसा कभी नहीं हो सकता' कहकर प्रत्येक प्रगति का विरोध करते हैं। लेकिन अनादिकाल से यह सर्वविदित सत्य है कि जिसे ऐसे मदमत्त शक्तिशाली लोग असंभव कहा करते हैं वह वस्तुतः असंभव नहीं है।

रइलो ब'ले राख्ले कारे
हुकुम तोमार फ'ल्बे कबे।
(तोमार) टानाटानि टिंक्बे ना भाई,
र'बार येटा सेटाइ र'बे॥
या खुसि ताइ क'र ते पारो—
गायेर जोरे राखो मारो—
यांर गाये सब व्यथा बाजे
तिनि या स'न सेटाई स'बे॥
अनेक तोमार टाका कड़ि,
अनेक दड़ा अनेक दड़ि,
अनेक अश्व अनेक करी,
अनेक तोमार आछे भवे।
भाव्छो हबे तुमिइ या चाओ,
जगत्टा के तुमिइ नाचाओ,
देख् बे हठात् नयन खुले'
हय म येटा सेटाओ हबे॥

" 'यह रह गया'—ऐसा कह कर तुमने किसे बचा लिया ? कब तुम्हारा हुक्म तामील हुआ है ! अरे भाई, यह तेरी खींच-तान चलेगी नहीं, जो रहने को है सिर्फ वही रहेगा। तुम जो खुशी कर सकते हो, जबर्दस्ती करके रखते रहो और मारते रहो—परन्तु जिनके शरीर में सारी व्यथा लगती है वे जो कुछ सहते हैं उतना ही चल सकेगा। तुम्हारे बहुत रुपये-पैसे हैं, टीमटाम हैं, बहुत हाथी-घोड़े हैं—दुनिया में तुम्हारे बहुत सम्पत्ति है ! तुम सोचते हो कि जो तुम चाहोगे वही होगा, दुनिया को तुम्हीं नचा रहे हो ! लेकिन, भाई मेरे, एक दिन तुम आंख खोल कर देखोगे कि (तुम्हारे मत से) जो कभी नहीं होता, वह भी हो गया !"

मगर निःसहाय अकेले निकल पड़ने में वीरता चाहे कितनी हो, क्या बुद्धिमानी भी है ? अगर मनोवाञ्छा पूरी न हुई तो इन लोगों का साथ छोड़ना किस काम आया ? रवीन्द्रनाथ लक्ष्य प्राप्त को इतनी बड़ी बात नहीं मानते। चल देना ही बड़ी बात है, मनोवाञ्छा हुई या नहीं इसका हिसाब दुनियादार लोग किया करते हैं। वीर इसकी परवा नहीं करता। सत्य के मार्ग में अग्रसर होकर टूट जाना भी अच्छा है। जो लोग सत्य के मार्ग में चल रहे हैं उनका चलना देखना भी श्रेयस्कर है; पर लक्ष्य तक नहीं पहुंचे तो सारी यात्रा ही व्यर्थ ही गई, ऐसा विचार रवीन्द्रनाथ को पसन्द नहीं है। उन्होंने गाया है : "क्या हुआ जो मैं पार नहीं जा सका ! मेरी आशा की नैया डूब गई तो हर्ज़ क्या है, वह हवा तो शरीर में लग रही है, जिससे नाव चल रही थी। तुम लोगों की चलती नाव देख रहा हूँ, इसी में क्या कम आनन्द है ? हाथ के पास अपने इर्द-गिर्द, जो कुछ पा रहा हूँ वही बहुत है। हमारा दिन भर क्या यही काम है कि उस पार की ओर ताकता रहूँ ! यदि कुछ कम है तो प्राण देकर उसे पूरा कर लूंगा। मेरी कल्पलता वहीं है जहां मेरा कुछ दावा है !"—

आमार नाइ वा ह'लो पारे यावा।
ये हावाते चलतो तरी
अंगेते सेइ लागाइ हावा।
नेइ यदि वा जमलो पाड़ि,
घाट आछे तो बसते पारि,
आमार आशार तरी डुबलो यदि
देखबो तोदेर तरी बावा।
हातेर काछे कोलेर काछे
या आछे सेइ अनेक आछे
आमार सारा दिनेर एइ कि रे काज
ओपार पाने केंदे चावा?
कम किछु मोर थाके हेथा
पूरिये नेबो प्राण दिये ता,
आमार सेइखानेतेइ कल्पलता
येखाने मोर दाबि-दावा।

"ओ अभागे मनुष्य! हो सकता है कि तेरे अपने ही लोग तुझे छोड़ दें; लेकिन इसकी चिन्ता करने से कैसे चलेगा! शायद तेरी आशालता टूट जायगी और उसमें फल नहीं फलेगा; पर इसीलिये चिन्ता करने से कैसे चलेगा? तेरे रास्ते में अंधेरा छा जाएगा, पर इसीलिये क्या तू रुक जायगा? अरे ओ (अभागे) तुझे बार-बार बत्ती जलानी पड़ेगी और फिर भी शायद वह नहीं जलेगी!—लेकिन इसीलिये चिन्ता करने से कैसे चलेगा? तेरी प्रेम-वाणी सुनकर जंगली जानवर तक चले आएंगे और फिर भी ऐसा हो सकता है कि तेरे अपने लोगों का पाषाण का हृदय न पिघले,—लेकिन इसीलिये चिन्ता करने से कैसे चलेगा! दोस्त मेरे, तू क्या इसीलिये लौट आयगा कि सामने का दरवाज़ा बन्द है? ना भाई, तुझे बार-बार ठेलना पड़ेगा और फिर भी हो सकता है

कि दरवाज़ा हिले ही नहीं !--लेकिन इसीलिये चिन्ता करने से कैसे काम चलेगा !"—

तार आपन जने छाड़बे तोरे
ता' बले भावना करा चलबे ना
तोर आशालता पड़बे छिँड़े,
हय तो रे फल फलबे ना—
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥
आसबे पथे आँधार नेमे
ताइ बलेइ कि रइबि थेमे
ओ तुइ बारे बारे ज्वालबि बाति, हय तो बाति ज्वलबे ना
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥
शुने तोमार मुखेर बानी,
आसबे फिरे बनेर प्राणी
तबु हयतो तोमार आपन घरे पाषाण हिया गलबे ना--
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥
बद्ध दुयार देखलि बले
अमनि कि तुइ आसबि चले,
तोरे बारे बारे ठेलते हबे, हयतो दुयार टलबे ना--
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥

फलाशा के प्रति निःस्पृह होने का यह अर्थ नहीं कि फलप्राप्ति के विषय में साधक का विश्वास ही न हो। वस्तुतः अखंड विश्वास के विना निःस्पृहता आती ही नहीं। 'अरे ओ मन, सदा विश्वास रख कि काम होकर ही रहेगा। यदि तूने सचमुच प्रण ठान लिया है तो निश्चय ही तेरी प्रतिज्ञा रहेगी। यह जो तेरे सामने पाषाण की तरह पड़ा हुआ है वह प्राण पाकर हिल उठेगा, जो गूंगों की भांति पड़े हुए हैं वे भी निश्चय ही बोलने लगेंगे। समय हो गया है। जिसके पास जो बोझ है वह उठा लो। मेरे मन, यदि तूने दुःख को सिर-माथे ले लिया है

तो यह दुख तेरा जरूर सह जायगा। जब घंटा बज उठेगा, तो तू देखेगा कि सब लोग तैयार हैं और सभी यात्री एक साथ निश्चय ही एक रास्ते पर निकल पड़ेंगे। मेरे मन, दिन-रात यह विश्वास रख कि काम होकर ही रहेगा--

निशिदिन भरसा राखिस, ओरे मन, हवेइ हवे।
यदि पण करे थाकिस, से-पण तोमार रवेइ र'वे॥
ओरे मन हवेइ हवे॥
पाषाण समान आछे पड़े
प्राण पेये से उठबे नड़े
आछे यारा बोबार मतन, ताराओ कथा कवेइ कवे॥
समय होलो समय होलो,
ये यार आपन बोझा तोलो;
दुःख यदि माथाय धरिस, से दुःख तोर सबेइ सबे॥
देखबे सबाइ आसबे सेजे;
घंटा यखन उठबे बेजे,
एक-साथे सब यात्री यत एकइ रास्ता लवेइ लबे॥
निशिदिन भरसा राखिस० ॥

इस अखण्ड विश्वास का साधक एकबार चल पड़ने पर लौटता नहीं। 'ना, मैं अब नहीं लौटूंगा, नहीं लौटूंगा। मेरी नैया अब ऐसी मनोहर हवा की ओर बह चली है, मैं अब किनारे नहीं लगूंगा, नहीं लगूंगा। धागे टूटकर छितरा गए हैं तो क्या मैं उन्हें ही खोंट-खोंट कर जान दे दूं? ना, अब टूटे घर की खूँटियाँ बटोर कर मैं बेड़ा नहीं रूंधूँगा! घाट की रस्सी टूट गई है तो क्या इसीलिये छाती फाड़-फाड़ कर रोऊँ? अब तो मैं पाल की रस्सी कसके पकड़ लूंगा, यह रस्सी टूटने नहीं दूंगा, नहीं दूंगा!

आमि फिरबो ना रे, फिरबो ना आर फिरबो ना रे--
(एमन) हावार मुखे भासलो तरी

(कूले) भिड़्बो ना आर भिड़्बो ना रे ॥
छिड़िये गेछे सूतो छिँड़े
ताइ खुँटे' आज मर्बो कि रे,
(एखन) भाङ्गा घरेर कुड़िये खुँटि
(बेड़ा) घिर्बो ना आत घिर्बो ना रे ॥
घाटेर रसि गेछे केटे
काँदबो कि ताइ वक्ष फेटे,
(एखन) पालेर रसि ध'रबो कसि'
(ए रसि) छिँड़बो ना आर छिँड़बो ना रे ॥

जो रास्ते पर निकल पड़ा है उसे फिरने का नाम लेना भी ठीक नहीं है। नेता वही हो सकता है जो स्वयं अपने-आप को ही जीत सके। रवीन्द्रनाथ ने नाना भाव से इस बात पर जोर दिया है। जो आत्मजयी है, जिसने अपने-आप को काबू में रखा है वही दूसरों को भिड़ पड़ने की प्रेरणा दे सकता है। जो स्वयं हार गया, जो अपने को ही नहीं सम्हाल सका वह दूसरे को क्या बल देगा।—'अरे ओ अभागे, यदि तू स्वयं ही अवसाद-ग्रस्त होकर गिर पड़ेगा तो दूसरे किसी को कैसे बल देगा? उठ पड़, खड़ा हो जा, हिम्मत न हार। लाज छोड़ दे, भय छोड़ दे—तू अपने-आप को ही जीत ले। जब ऐसा हो जाएगा तब तू जिसे पुकारेगा वही तेरी पुकार पर चल पड़ेगा। अगर तू रास्ते में निकल ही पड़ा है तो अब जो भी हो, जैसे भी हो, लौटने का नाम न ले। अरे ओ अभागे, तू बार-बार पीछे की ओर न देख। भाई मेरे, दुनिया में भय और कहीं नहीं है, वह केवल तेरे अपने मन में है। तू सिर्फ अभय-चरणों की शरण लेकर निकल पड़—

आपनि अवश होलि, तबे बल दिबि तुइ कारे।
उठे दाँड़ा उठे दाँड़ा, भेङे पड़िस ना रे ॥

करिस ने लाज करिस ने भय,

आपना के तुइ क'रे ने जय,
सबाइ तखन साड़ा देबे डाक दिबि तुइ यारे ॥
बाहिर यदि हलि' पथे
फ़िरिस ने तुइ कोनो मते,
थेके थेके पिछन पाने
चास् ने बारे बारे।
नाइ-ये रे भय त्रिभुवने
भय शुधु तोर निजेर मने,
अभय चरण शरण क'रे
बाहिर हये या रे ॥

"ना भाई, तू कमर कसकर तैयार हो जा, बार-बार हिलना ठीक नहीं है। मेरे दोस्त, केवल सोच-सोचकर तू हाथ में आई लक्ष्मी को ठुकराने की ग़लती न कर। इधर या उधर कुछ एक बात तै कर ले। यह भी क्या कि केवल विचारों के स्रोत पर बहता ही फिरा जाय! बहता फिरना तो मर जाने से बुरा है। ना भाई, एक बार इधर एक बार उधर—यह खेल अब बन्द कर। रत्न मिलता हो तो, न मिलता हो तो, एकबार प्रयत्न तो फिर भी करना ही पड़ेगा। क्या हुआ अगर वह तेरे मन लायक़ नहीं है तो? ना भाई, तू अब आंसू तो मत गिरा। डोंगी धारा में छोड़ देनी हो तो छोड़ दे, पशोपेश में पड़कर समय क्यों बरबाद कर रहा है? जब अवसर हाथ से निकल जायगा, पयान की बेला बीत जायगी, क्या तब तू आंख खोलेगा?"—

बुक बेंधे तुइ दाँड़ा देखि, बारे बारे हेलिस ने, भाइ।
शुधु तुइ भेबे भेबेइ हातेर लक्ष्मी ठेलिसने, भाइ ॥
एकटा किछु क'रे ने ठिक, भेसे फेरा मरार अधिक,
बारेक ए दिक बारेक ओ-दिक ए खेला आर खेलिसने, भाइ ॥
मेले किना मेले रतन, करते तबु हबे यतन,
ना यदि हय मनेर मतन, चोखेर जलटा फेलिसने, भाइ ॥

भासाते हय भासा भेला, करिसने आर हेला फेला,
पेरेये यखन यावे बेला तखन आंखि मेलिसने, भाइ ॥

"भाई मेरे, घर में म्लान मुँह देखकर तू रुक न जा, बाहर अन्धकारमय मुख देखकर तू ठिठक न जा; जो तेरे मन में है उसे प्राणों की बाज़ी लगाकर भी पाने का प्रयत्न कर, सिर्फ इतना ध्यान रख कि उस मनचाही वस्तु के लिये दस भले आदमियों के बीच दुहाई न करना पड़े। भाई मेरे, रास्ता केवल एक ही है उसे ही पकड़ कर आगे बढ़ चल। जिसे ही आया देख उसीके पीछे चल पड़ने की ग़लती न कर। तू अपने काम में लगा रह, जिसे जो ख़ुशी हो उसे वही कहने दे ना? क्यों तू दूसरों की परवाह करता है? औरों की बात से अपने आपको झुलसाना ठीक नहीं है, ना तू किसी की भी परवा न कर"—

घरे मुख मलिन देखे गलिसने—ओरे भाइ,
बाहरे मुख आँधार देखे टलिसने—ओरे भाइ ॥
या तोमार आछे मने साधो ताइ परानपणे,
शुधु ताइ दशजनारे बलिसने—ओरे भाइ ॥
एकइ पथ आछे ओरे, चल् सेइ रास्ता धरे,
ये आसे तारि पिछे—चलिसने—ओरे भाइ ॥
थाक् ना तुइ आपन काजे, या ख़ुशी बलुक ना ये,
ता निये गायेर ज्वालाय ज्वलिसने—ओरे भाइ ॥

जिस वीर ने एक बार आगे बढ़नेका दृढ़ निश्चय कर लिया, जो अपने आप को जीत कर, अपने समस्त क्षुद्र स्वार्थों को भूलकर अमृत के संधान में निकल पड़ा है उसकी विजय निश्चित है। रास्ते में विघ्न आएंगे; पर वे दूर हो जायंगे, बन्धन जकड़ेंगे; पर छिन्न हो जायंगे। बाधाएं दृढ़निश्चयी को परास्त नहीं कर सकतीं। वह दुःख में, संकट में और आनन्द में चराचर को आन्दोलित करता हुआ उल्लसित करता हुआ आगे निकल जायगा। "भय नहीं है, भय नहीं है, विजय निश्चित है, यह द्वार खुल कर ही रहेगा। मैं ठीक जानता हूँ—तेरे बन्धन की डोरी

बार-बार टूट जायगी। क्षण-क्षण तू अपने आपको खोकर सुप्ति की रात काट रहा है। अरे भाई, तुझे बारंबार विश्व का अधिकार पाना होगा। स्थल में, जल में, लोकालय में सर्वत्र तेरा आह्वान है। तू सुख और दुःख में लाज की हालत में और भय की हालत में भी जो गान गाएगा, तेरे उस प्रत्येक स्वर में फूल, पल्लव, नदी, निर्झर सुर मिलाएंगे और तेरे प्रत्येक छन्द से आलोक और अन्धकार स्पन्दित होंगे।"—

नाइ नाइ भय, हबे-हबे जय खुले जाबे एइ द्वार—
जानि जानि तोर बन्धन डोर छिँड़े जाबे बारेबार॥
खने खने तुइ हाराये आपना सुप्ति निशीथ करिस यापना
बारे बारे तोरे फिरे पेते हबे विश्वेर अधिकार॥
स्थले जले तोर आछे आह्वान आह्वान लोकालये,
चिरदिन तुइ गाहिबि ये गान सुखे दुखे लाजे भये।
फूल पल्लव नदी निर्झर सुरे सुरे तोर मिलाइबे स्वर,
छन्दे ये तोर स्पन्दित हबे आलोक अन्धकार॥

देश-माता के प्रति जो भक्ति है वह क्या किसी स्वार्थ के कारण है? ऐसी युक्तियां दी जाती हैं कि हमारा देश इतना सुन्दर है, हमारी पृथ्वी ऐसी रत्नगर्भा है, हमारा आकाश ऐसा मनोरम है और इसीलिये हमारा देश संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है; परन्तु ये युक्तियां केवल अपने आपको भुलावा देने के लिये ही दी जाती हैं। माता के प्रति पुत्र का प्रेम अहेतुक होता है। "मातः, मेरा जन्म सार्थक है जो इस देश में पैदा हुआ हूँ, मेरा जन्म सार्थक है जो मैं तुझे प्यार कर रहा हूँ। मुझे ठीक नहीं मालूम कि तेरे पास किसी रानी की भांति कितना धन है, कितने रत्न हैं। सिर्फ इतना ही जानता हूँ कि तेरी छाया में आने से मेरे अंग-अंग जुड़ा जाते हैं! मैं ठीक नहीं जानता कि और किसी वन में ऐसे फूल खिलते हैं या नहीं जो इस प्रकार अपनी सुगंधि से आकुल कर देते हैं, यह भी नहीं जानता कि किसी आसमान में ऐसी मधुर हँसी हँसने वाला चांद उठता है या नहीं। सिर्फ इतना जानता हूँ कि तुम्हारे प्रकाश में

पहले पहल मैंने आंखें खोलीं और वे जुड़ा गईं। बस इसी आलोक में आँखें बिछाए रहूँगा और अन्त में इसी आलोक में उन्हें मूँद भी लूँगा।"—

सार्थक जनम आमार जन्मेछि ए देशे।
सार्थक जनम मागो, तोमाय भालबेसे॥
जानिने तोर धन रतन, आछे कि ना रानीर मतन,
शुधू जानि आमारा अङ्ग जुड़ाय तोमार छायाय एसे॥
कोन् बनेते जानिने फूल गन्धे एमन करे आकुल,
कान् गगने ओठे रे चाँद एमन हासि हेसे।
आँखि मेले तोमार आलो प्रथम आमार चोख जुड़ाल,
ओइ आलोतेइ नयन रेखे मूदब नयन शेषे॥

यह अहैतुक प्रेम ही वास्तविक भक्ति है। यही देशभक्त का सबसे बड़ा संबल है।

: १६ :

एक कुत्ता और एक मैना

आज से कई वर्ष पहले गुरुदेव के मन में आया कि शान्तिनिकेतन को छोड़कर कहीं अन्यत्र जायँ। स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। शायद इसलिए, या पता नहीं क्यों, तै पाया कि वे श्रीनिकेतन के पुराने तिमंज़िले मकान में कुछ दिन रहें। शायद मौज में आकर ही उन्होंने यह निर्णय किया हो। वे सबसे ऊपर के तल्ले में रहने लगे। उन दिनों ऊपर तक पहुँचने के लिए लोहे की चक्करदार सीढ़ियां थीं, और वृद्ध और क्षीणवपु रवीन्द्रनाथ के लिए उस पर चढ़ सकना असम्भव था। फिर भी बड़ी कठिनाई से उन्हें वहां ले जाया जा सका।

उन दिनों छुट्टियां थीं। आश्रम के अधिकांश लोग बाहर चले गए थे। एक दिन हमने सपरिवार उनके 'दर्शन' की ठानी। 'दर्शन' को मैं जो यहाँ विशेषरूप से दर्शनीय बनाकर लिख रहा हूं, उसका कारण यह है कि गुरुदेव के पास जब कभी मैं जाता था। तो प्रायः वे यह कह कर मुस्करा देते थे कि 'दर्शनार्थी हैं क्या ?' शुरू-शुरू में मैं उनसे ऐसी बँगला में बात करता था, जो वस्तुतः हिन्दी-मुहाविरों का अनुवाद हुआ करती थी। किसी बाहर के अतिथि को जब मैं उनके पास ले जाता था तो कहा करता था—'एक भद्र लोक आपनार दर्शनेर जन्य एसे छेन।' यह बात हिन्दी में जितनी प्रचलित है, उतनी बँगला में नहीं। इसलिए गुरुदेव ज़रा मुस्करा देते थे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मेरी यह भाषा बहुत अधिक पुस्तकीय है और गुरुदेव ने उस 'दर्शन' शब्द को पकड़ लिया था। इसलिए जब कभी मैं असमय में

पहुँच जाता था तो वे हंसकर पूछते थे—"दर्शनार्थी लेकर आए हो क्या ?" यहाँ यह दुःख के साथ कह देना चाहता हूँ कि अपने देश के दर्शनार्थियों में कितने ही इतने प्रगल्भ होते थे कि समय-असमय, स्थान-अस्थान, अवस्था-अनवस्था की एकदम परवा नहीं करते थे और रोकते रहने पर भी आ ही जाते थे। ऐसे 'दर्शनार्थियों' से गुरुदेव कुछ भीत-भीत-से रहते थे। सो मैं मय बाल-बच्चों के एक दिन श्रीनिकेतन जा पहुंचा। कई दिनों से उन्हें देखा नहीं था।

गुरुदेव वहां बड़े आनन्द में थे। अकेले रहते थे। भीड़-भाड़ उतनी नहीं होती थी, जितनी शान्तिनिकेतन में। जब हम लोग ऊपर गए तो गुरुदेव बाहर एक कुर्सी पर चुपचाप बैठे अस्तगामी सूर्य की ओर ध्यान-स्तिमित नयनों से देख रहे थे। हम लोगों को देखकर मुस्कराए, बच्चों से ज़रा छेड़-छाड़ की, कुशल-प्रश्न पूछे और फिर चुप हो रहे। ठीक उसी समय उनका कुत्ता धीरे-धीरे ऊपर आया और उनके पैरों के पास खड़ा होकर पूँछ हिलाने लगा। गुरुदेव ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। वह आँखें मूंदकर अपने रोम-रोम से उस स्नेह-रस का अनुभव करने लगा। गुरुदेव ने हम लोगों की ओर देखकर कहा—"देखा तुमने, ये आ गए। कैसे इन्हें मालूम हुआ कि मैं यहां हूँ, आश्चर्य है। और देखो, कितनी परितृप्ति इनके चेहरे पर दिखाई दे रही है!!"

हम लोग उस कुत्ते के आनन्द को देखने लगे। किसी ने उसे राह नहीं दिखाई थी, न उसे यह बताया था कि उसके स्नेह-दाता यहां से दो मील दूर हैं और फिर भी वह पहुँच गया! इसी कुत्ते को लक्ष्य करके उन्होंने 'आरोग्य' में इस भाव की एक कविता लिखी थी—"प्रतिदिन प्रातःकाल यह भक्त कुत्ता स्तब्ध होकर आसन के पास तब तक बैठा रहता है, जब तक अपने हाथों के स्पर्श से मैं इसका संग नहीं स्वीकार करता। इतनी-सी स्वीकृति पाकर ही उसके अंग-अंग में आनन्द का प्रवाह बह उठता है। इस वाक्य हीन प्राणि-

लोक में सिर्फ यही एक जीव अच्छा-बुरा सबको भेदकर सम्पूर्ण मनुष्य को देख सका है; उस आनन्द को देख सका है, जिसे प्राण दिया जा सकता है, जिसमें अहैतुक प्रेम ढाल दिया जा सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्य लोक में राह दिखा सकती है। जब मैं इस मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन देखता हूँ, जिसमें वह अपनी दीनता बताता रहता है, तब मैं यह सोच ही नहीं पाता कि उसने अपने सहज बोध से मानव-स्वरूप में कौन-सा मूल्य आविष्कार किया है; इसकी भाषाहीन दृष्टि की करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है, उसे समझा नहीं पाती, और मुझे इस सृष्टि में मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती है!" इस प्रकार कवि की मर्मभेदी दृष्टि ने इस भाषाहीन प्राणी की करुण दृष्टि के भीतर उस विशाल मानव-सत्य को देखा है, जो मनुष्य मनुष्य के अन्दर भी नहीं देख पाता!

मैं जब यह कविता पढ़ता हूँ तब मेरे सामने श्रीनिकेतन के तिलल्ले पर की वह घटना प्रत्यक्ष-सी हो जाती है। वह आँख मूँदकर अपरिसीम आनन्द, वह 'मूक हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन' मूर्तिमान हो जाता है। उस दिन मेरे लिए वह एक छोटी-सी घटना थी, आज वह विश्व की अनेक महिमाशाली घटनाओं की श्रेणी में बैठ गई है। एक आश्चर्य की बात और इस प्रसंग में उल्लेख की जा सकती है। जब गुरुदेव की चिताभस्म कलकत्ते से आश्रम में लाई गई, उस समय भी न जाने किस सहज बोध के बल पर वह कुत्ता आश्रम के द्वार तक आया और चिताभस्म के साथ अन्यान्य आश्रमवासियों के साथ शान्त-गम्भीर भाव से उत्तरायण तक गया! आचार्य क्षितिमोहन सेन सब के आगे थे। उन्होंने मुझे बताया है कि वह चिताभस्म के कलश के पास थोड़ी देर चुपचाप बैठा भी रहा था!

कुछ और पहले की घटना याद आ रही है। उन दिनों मैं शान्तिनिकेतन में नया ही आया था। गुरुदेव से अभी उतना धृष्ट नहीं हो पाया था। गुरुदेव उन दिनों सुबह अपने बगीचे में टहलने के लिए निकला

करते थे। मैं एक दिन उनके साथ हो गया था। मेरे साथ एक और पुराने अध्यापक थे, और सही बात तो यह है कि उन्होंने ही मुझे भी अपने साथ ले लिया था। गुरुदेव एक-एक फूल-पत्ते को ध्यान से देखते हुए अपने बगीचे में टहल रहे थे और उक्त अध्यापक महाशय से बातें करते जा रहे थे। मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। गुरुदेव ने बातचीत के सिलसिले में एक बार कहा—"अच्छा साहब, आश्रम के कौए क्या हो गए? उनकी आवाज़ सुनाई ही नहीं देती?" न तो मेरे साथी उन अध्यापक महाशय को यह खबर थी और न मुझे ही। बाद में मैंने लक्ष्य किया कि सचमुच कई दिनों तक आश्रम में कौए नहीं दीख रहे हैं। मैंने तब तक कौओं को सर्वव्यापक पक्षी ही समझ रखा था। अचानक उस दिन मालूम हुआ कि ये भले आदमी भी कभी-कभी प्रवास को चले जाते हैं या चले जाने को बाध्य होते हैं। एक लेखक ने कौओं की आधुनिक साहित्यिकों से उपमा दी है, क्योंकि इनका मोटो है—'मिस्चीफ़ फ़ार मिस्चीफ्स सेक' (शरारत के लिए ही शरारत)। तो क्या कौओं का प्रवास भी किसी शरारत के उद्देश्य से ही था? प्रायः एक सप्ताह के बाद बहुत कौए दिखाई दिए।

एक दूसरी बार मैं सवेरे गुरुदेव के पास उपस्थित था। उस समय एक लंगड़ी मैना फुदक रही थी। गुरुदेव ने कहा—"देखते हो, यह यूथभ्रष्ट है। रोज़ फुदकती है, ठीक यहीं आकर। मुझे इसकी चाल में एक करुण भाव दिखाई देता है।" गुरुदेव ने अगर कह न दिया होता तो मुझे उसका करुण भाव एकदम नहीं दीखता। मेरा अनुभव था कि मैना करुण भाव दिखाने वाला पक्षी है ही नहीं। वह दूसरों पर अनुकम्पा ही दिखाया करती है। तीन-चार वर्ष से मैं एक नए मकान में रहने लगा हूँ। मकान के निर्माताओं ने दीवारों में चारों ओर एक-एक सूराख छोड़ रखा है—यह कोई आधुनिक वैज्ञानिक खतरे का समाधान होगा। सो एक-एक मैना-दम्पति नियमित भाव से प्रतिवर्ष यहाँ गृहस्थी जमाया करते हैं। तिनके और चिथड़ों का अम्बार लगा

देते हैं। भलेमानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते। हैरान होकर हम सूराखों में ईंटें भर देते हैं; परन्तु वे ख़ाली बची जगह का भी उपयोग कर लेते हैं। पति पत्नी जब कोई एक तिनका लेकर सूराख में रखते हैं तो उनके भाव देखने लायक होते हैं। पत्नी देवी का तो क्या कहना! एक तिनका ले आईं तो फिर एक पैर पर खड़ी होकर ज़रा पंखों को फटकार दिया, चोंच को अपने ही परों से साफ़ कर लिया और नाना प्रकार की मधुर और विजयोद्घोषी वाणी में गान शुरू कर दिया! हम लोगों की तो उन्हें कोई परवा ही नहीं रहती। अचानक इसी समय अगर पति देवता भी कोई कागज़ का या गोबर का टुकड़ा लेकर उपस्थित हुए तब तो क्या कहना! दोनों के नाच-गान और आनन्द-नृत्य से सारा मकान मुखरित हो उठता है। इसके बाद ही पत्नी देवी ज़रा हम लोगों की ओर मुखातिब होकर लापरवाही भरी अदा से कुछ बोल देती हैं। पति देवता भी मानो मुस्करा कर हमारी ओर देखते, कुछ रिमार्क करते और मुँह फेर लेते हैं। पक्षियों की भाषा तो मैं नहीं जानता; पर मेरा निश्चित विश्वास है कि उनमें कुछ इस तरह की बातें हो जाया करती हैं—

पत्नी—ये लोग यहाँ कैसे आ गए जी!

पति—उँह, बेचारे आ गए हैं, तो रह जाने दो। क्या कर लेंगे।

पत्नी—लेकिन फिर भी इनको इतना तो ख़याल होना चाहिए कि यह हमारा प्राइवेट घर है।

पति—आदमी जो हैं इतनी अक़ल कहाँ?

पत्नी—जाने भी दो।

पति—और क्या?

सो इस प्रकार की मैना कभी करुण हो सकती है, यह मेरा विश्वास ही नहीं था। गुरुदेव की बात पर मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि सचमुच ही उसके मुख पर एक करुण भाव है। शायद यह विधुर पति था, जो पिछली स्वयंवर-सभा के युद्ध में आहत और

परास्त हो गया था। या विधवा पत्नी है, जो पिछले बिड़ाल के आक्रमण के समय पति को खोकर, युद्ध में ईषत् चोट खाकर एकान्त विहार कर रही है। हाय, क्यों इसकी ऐसी दशा है! शायद इसी मैना को लक्ष्य करके गुरुदेव ने बाद में एक कविता लिखी थी, जिसके कुछ अंश का सार इस प्रकार है--

"उस मैना को क्या हो गया है, यही सोचता हूँ। क्यों वह दल से अलग होकर अकेली रहती है? पहले दिन देखा था सेमर के पेड़ के नीचे मेरे बगीचे में। जान पड़ा जैसे एक पैर से लँगड़ा रही हो। इसके बाद उसे रोज़ सवेरे देखता हूँ—संगीहीन होकर कीड़ों का शिकार करती फिरती है। चढ़ आती है बरामदे में। नाच-नाचकर चहलकदमी किया करती है, मुझसे ज़रा भी नहीं डरती। क्यों है ऐसी दशा इसकी? समाज के किस दण्ड पर उसे निर्वासन मिला है, दल के किस अविचार पर उसने मान किया है? कुछ ही दूरी पर और मैनाएँ बक-झक कर रही हैं, घास पर उछल-कूद रही हैं, उड़ती फिरती हैं शिरीष वृक्ष की शाखाओं पर, इस बेचारी को ऐसा कुछ भी शौक़ नहीं है। इसके जीवन में कहाँ गाँठ पड़ी है, यही सोच रहा हूं। सवेरे की धूप में मानो सहज मन से आहार चुगती हुई झड़े हुए पत्तों पर कूदती फिरती है सारा दिन। किसी के ऊपर इसका कुछ अभियोग है, यह बात बिलकुल नहीं जान पड़ती। इसकी चाल में वैराग्य का गर्व भी तो नहीं है, दो आग-सी जलती आँखें भी तो नहीं दिखतीं।' इत्यादि।

जब मैं इस कविता को पढ़ता हूं तो उस मैना की करुण मूर्ति अत्यन्त साफ़ होकर सामने आ जाती है। कैसे मैंने उसे देखकर भी नहीं देखा और किस प्रकार कवि की आँखें इस विचार के मर्मस्थल तक पहुँच गईं, सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। एक दिन वह मैना उड़ गई। सायंकाल कवि ने उसे नहीं देखा। जब वह अकेले

आया करती है उस डाल के कोने में ; जब झींगुर अंधकार में झन-कारता रहता है, जब हवा में बाँस के पत्ते झरझराते रहते हैं, पेड़ों की फाँक से पुकारा करता है नींद तोड़ने वाला सन्ध्यातारा !' कितना करुण है उसका ग़ायब हो जाना !

: १७ :

आलोचना का स्वतन्त्र मान

एक पत्र के लिए लेख लिखने बैठा हूँ। चाहता हूँ कि काव्य के रस-लोक की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में पाठकों को नई बात सुनाऊँ, परन्तु हृदय भीतर से विद्रोह कर रहा है। बार-बार मन का बहुत दिनों का अन्तःसंचित पाप बाहर निकल आना चाहता है। नौ वर्ष से अध्यापन का कार्य कर रहा हूँ, हिन्दी और संस्कृत के रस-सिद्ध महाकवियों की वाणी पढ़ता-पढ़ाता आया हूँ। विद्यार्थियों को और अपने आपको समझाता रहा हूँ कि इस काव्य-रस के रसिकों को एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है जो ब्रह्मानन्द का सहोदर है। कहता रहा हूँ दुनिया के छोटे-मोटे प्रयोजन इस गुणमय शरीर और मन की परितृप्ति के लिए हैं। आत्मा की परितृप्ति किसी अलौकिक रस नामक वस्तु से होती है—अर्थात् अपने को और अपने श्रोताओं को दो परस्पर-विरोधी दुनियाओं की बात बताता रहा हूँ, एक जड़-जगत् है, दूसरा रस-जगत्। परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ है कि भीतर से एक आवाज नहीं आती हो कि आखिर प्रमाण क्या है? क्यों इस रस-जगत् के साथ जड़-जगत् को निरन्तर लड़ाई चल रही है, क्यों जब एक दो-दुगुन्ने-चार कहता है तो दूसरा पांच कहने के लिए कटिबद्ध है, क्यों एक स्वर्गलोक की ओर उठाता है तो दूसरा पैर पकड़ कर अस्वर्गलोक की ओर खींच लेता है? मैंने अपने श्रोताओं को धोखा नहीं दिया है, उन्हें भी इस प्रश्न की ओर उन्मुख किया है,

परन्तु अपने आपको मैंने धोखा दिया है। मैं रस-लोक की अनिर्वचनीयता पर विश्वास न करके भी विश्वास करता रहा हूँ। आज मेरे मन की अवस्था ठीक ऐसी ही नहीं है। आज मुझे ऐसा लग रहा है कि रस-जगत् और जड़-जगत् का भेद कल्पना करके हमने बिस्मिल्ला ही गलत कर दिया है। मैं पाठकों का समय व्यर्थ में नष्ट नहीं करूँगा—विश्वास रक्खें। परन्तु हृदय के भीतर जो विद्रोह आज घनीभूत हो बरसना चाह रहा है उसके उत्तेजक कारणों को कहे बिना मैं अपनी बात ठीक-ठीक नहीं समझा सकूँगा।

अध्यापक-जीवन का एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सैकड़ों बातों को पढ़ना-पढ़ाना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदय से स्वीकार करते हैं और न साहित्य के लिए हितकर मानते हैं। यहाँ आदमी को आपा खोकर ही सफलता मिलती है। अगर आपने कहीं स्वतंत्र मत प्रकाश किया तो साथ ही विद्यार्थी को आगाह कर देना पड़ेगा कि देखो, अमुक आदमी जिसकी धाक परीक्षक-मण्डली पर जमी हुई है, ऐसा न मान कर ऐसा मानता है। प्रकृत प्रसंग यह है कि 'ऐसा न मान कर ऐसा मानने वालों' की परस्पर-विरोधी उक्तियों पर अगर कोई सचमुच गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसके लिए शीघ्र आपके बगल में जो पागलखाना है उसमें शरण लेनी पड़ेगी। और आप निश्चित मानिए कि यदि ऐसे लोग कुछ अधिक संख्या में आगरे के उस गृह में जाने लगे तो आपको महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखों की कमी भी नहीं पड़ेगी। और यदि पाठकों ने भी उन विचित्र मतों को गम्भीरतापूर्वक स्वीकार करना शुरू किया तो आगरे के अधिकारियों को स्थान बढ़ाना पड़ेगा। पर आपको आगरे के बाहर से लेख मांगने पड़ते हैं, यही इस बात का सबूत है कि कोई साहित्यिक आलोचनाओं को गम्भीरतापूर्वक पढ़ता नहीं। एक सबूत यह भी है कि साधारण पाठक-मण्डली नित्य नये युगान्तरकारी रचयिताओं और रचनाओं के आविष्कार करने वाले लेखक से कभी

जवाब तलब नहीं करती। उसे ऐसी परस्पर असंलग्न और बेतुकी बातों के सुनने की आदत पड़ गयी है। सवाल यह है कि आखिर एक ही कवि के बारे में आकाश-पाताल जैसे अन्तर वाली सम्मतियाँ क्यों मिलती हैं? सस्ता जवाब यह है कि समालोचक भिन्न-भिन्न रुचि का होता है, सबकी योग्यता भी समान नहीं होती, इत्यादि। यह ठीक बात है। समालोचक नामक वैज्ञानिक में व्यक्तिगत बुद्धि कम-बेशी तो होती ही होगी, पर उलटी क्यों होगी? अर्थात् 'क' अगर कहे कि शेक्सपियर अद्वितीय नाटककार है तो उससे अधिक जानकारी रखने वाले को कहना चाहिए कि वह अतृतीय, अपंचम या अदशम नाटककार है, पर यह क्यों कि 'ख' कहे कि उसे नाटक के 'न' अक्षर का भी ज्ञान नहीं? आप मुझे गलत न समझें। मेरी मंशा यह नहीं है कि मैं आलोचकों को अज्ञ कहूँ और न मेरी मंशा यही है कि आलोचना-शास्त्र को उठा फेंकने की सलाह दूँ। मैं उस विकट मानसिक द्वन्द्व की ओर इशारा करना चाहता हूँ जिसको अध्यापक अपनी इच्छा और रुचि के विरुद्ध भी ढोता रहता है।

असल में कहीं मूल में ही गलती होनी चाहिए। मनुष्य का मन एक हजार अनुकूल और प्रतिकूल धाराओं के संघर्ष से रूप ग्रहण करता है। उसे अगर प्रमाण मान लें तो मूल्य-निर्धारण का कोई सामान्य मानदण्ड बन ही नहीं सकता। ग्राहक और विक्रेता को अपने-अपने मन के अनुसार 'सेर' बनाने की छोड़ दीजिए, तो बाजार बन्द हो जायँगे। कवि का कारबार इसी मानसिक 'सेर' से चलता है। अन्ततः अब तक उसी सेर से चलता रहा है। इधर समालोचक एक अपने मन का गढ़ा सेर लेकर पहुँचा है। जब हम समालोचक की रुचि की बात कहते हैं तो उसके उसी आत्म-निर्धारित सेर की बात करते हैं। 'क' नामक समालोचक जिसको तीन सेर कहता है, 'ख' उसे पौन सेर मानने को भी तैयार नहीं। एक पुरस्कार के लिये एक निर्णायक ने एक पुस्तक पर ८५ नम्बर दिये थे, दूसरे ने २०, तीसरे ने शून्य!!

और फिर भी समालोचक यह आशा करने से बाज नहीं आते कि उनकी बातें लोग उत्कर्ण होकर सुनेंगे। आप समालोचकों से बातें कीजिए तो देखिए वे अपनी लिखी हुई प्रत्येक पंक्ति को कितना महत्व-पूर्ण समझे बैठे हैं। पर सही बात यह है कि अधिकांश ऊपर से ऐसा दिखाते रहने पर भी भीतर-ही-भीतर अपनी आलोचनाओं को उतना महत्व नहीं देते। अगर वे अपनी-अपनी सम्मतियों को सचमुच ही स्वीकरणीय मानते तो दो-चार साहित्यिक पुलिस-केस हर शहर में होते रहते।

यह तय है कि अपनी-अपनी रुचि और अपने-अपने संस्कार लेकर वस्तु का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। कोई एक सामान्य मान-दण्ड होना चाहिए। वह मान-दण्ड बुद्धि है अर्थात् किसी वस्तु, धर्म या क्रिया के वास्तविक रहस्य का पता लगाने के लिए उसे अपने अनुराग-विराग या इच्छा-द्वेष के साथ नहीं सान देना चाहिए; बल्कि देखना चाहिए कि देखने वाले के बिना भी वस्तु अपने आप में क्या है। गीता में इसी बात को नाना भाव से कहा गया है। कभी द्वन्द्वों से अपरिचालित होने को, कभी बुद्धि की शरण लेने को और कभी 'अफलाशी' होकर कर्म करने को कहा गया है। समालोचना का जो ढर्रा चल पड़ा है उसमें द्वन्द्वों द्वारा परिचालित होने को दोष का कारण तो माना ही नहीं जाता, उलटे कभी-कभी उसके लिए गर्व किया जाता है। अनुराग-विराग, इच्छा-द्वेष आदि के द्वारा निर्णय पर पहुँचने को समालोचक गर्व की वस्तु समझता है।

सम्मतियों की इस बहुमुखी विरोधता का कारण है वस्तु को मानसिक संस्कारों के चश्मे से देखना और बुद्धि के द्वारा न देखना। अत्यधिक आधुनिक भाषा में कहें तो Subjectively देखना, और Objectively देखने का प्रयत्न न करना। पर समालोचक को अपनी लज्जा तो छिपानी ही चाहिए। कुछ समालोचक तो लज्जित होना जानते ही नहीं। वे हर गली-कूचे अपनी विशेष राय और

अपने सौ प्रतिद्वन्द्वियों की बात गर्व के साथ सुनाते रहते हैं। पर कुछ जो शीलवान् हैं, इस बात से शर्मिन्दा भी होते हैं और इसी लज्जा से बचने के लिए वेदान्त से लेकर काम-शास्त्र तक का हवाला दिया करते हैं। इन शर्मिन्दा होने वाले शीलवानों के कारण समालोचना की समस्या और भी जटिल हो रही है। इन्होंने इतने बहुविध शास्त्रीय दृष्टिकोण और लोक-शास्त्रादि पक्षों का आविष्कार किया है—महज परस्पर-विरोधी उक्तियों के समाधान के लिए—कि पाठक का चित्त विभ्रान्त हो जाता है। ऐसे ही एक प्रकार के समालोचकों ने एक स्वतंत्र रस-लोक की कल्पना की है। इनके पास दर्शन-शास्त्र की व्युत्पत्ति है और इसीलिए दर्शन की गंभीरता से आतंकित सहृदय समाज पर इनका सिक्का भी बहुत जम गया है। ये छूटते ही शरीर के दो हिस्से कर डालते हैं—शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन। दोनों परस्पर-विरोधी। फिर जगत् दो जड़ और चेतन। अब चेतन में आइए तो चेतन भी दो, लोक-पक्षात्मक और भाव-पक्षात्मक। और लोकपक्ष भी दो, आदर्शवादी और यथार्थवादी......इत्यादि। इस प्रकार समालोचना का मेघ-मल्लार शुरू होता है और अनभ्र वज्रपात प्रायः ही होता दिख जाता है। लेकिन यही होता तो कोई बात नहीं थी। यह तो हजार-दो-हजार सिस्टमों में से एक है। अब बताइए साधारण पाठक क्या समझे? इस प्रकार शुरू में ही अपनी रुचि-अरुचि के जाल से आलोच्य को आच्छादित करने वाली समालोचना को भी शास्त्रीय विवेचना हो गयी है और उसका नाम दिया गया है Judicial criticism या निर्णयात्मक समालोचना। यदि समालोचना को निर्णयात्मक मान लें तो इस पर से अनुमान हो सकता है कि आलोचक जज है। अब यह तो आप मानेंगे ही कि जज को यथासंभव अपने मनोभावों से प्रभावित न होकर किसी ऐसे मानदण्ड से फैसला करना चाहिए जो सबके लिए एक हो।

परन्तु, कहते हैं, समालोचना की दुनिया निराली होती है।

अन्य वैज्ञानिक ठोस वस्तुओं की नाप-जोख करते रहते हैं, पर समालोचक अनिन्द्रीय ग्राह्य अलौकिक रस-वस्तु की जाँच करता है। इसलिए पहले उसे अपने मनोभावों को ही प्रधानता देनी चाहिए। अर्थात छूटते ही उसे जो काव्यादि अपील कर जाएँ, 'पदझङ्कार मात्रेण' उसका मन हर जायँ उसी को उसे बुद्धि-परक विवेचना का रूप देना चाहिए। मुझे इस बात की शिकायत नहीं है। ऐसी हालत में आप समालोचक को जज या द्रष्टा या और कुछ कहें तो मुझे जरूर शिकायत होगी; क्योंकि ऐसा करके आलोचक वस्तुतः कवि बनता है। अन्तर यही होता है कि कवि फूल-पत्ता को देख कर भावोन्मत्त होता है और आलोचक उसकी कविता को। मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि कवि के चित्त के अन्तस्तल में या उसके Subconscious mind में ऐसी बहुत सी चीजें होती हैं जो अन-जान में उसकी कविता में आ जाती हैं और आलोचक का दावा बिल्कुल ठीक है कि वह उन अनजान प्रवृत्तियों से सहृदयों को परिचित कराता है। परन्तु जब वह कहता है कि उससे किसी अनिर्वचनीय हेतु या फल का संधान उसे मिलता है तो मुझे ऐसा लगता है कि वह मानव-बुद्धि का अपमान करता है। कोई चीज हमें सौ-दो-सौ कारणों से प्रभावित करती है। वैज्ञानिक को आज शायद दस-पाँच का ही ज्ञान है। बाकी अज्ञात है। किन्तु वैज्ञानिक का यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कह कर बाकी के लिए भावी पीढ़ियों में कुतूहल और उत्सुकता का भाव जगा जाय, यह नहीं कि कह दे कि बाकी किसी अज्ञात और अज्ञेय उत्स से आ रही हैं। समालोचक से हमारी यह भी शिकायत है।

लेकिन मुझे केवल इन्हीं दो कारणों से आलोचना-कार्य के प्रति संशय का भाव नहीं उदित हुआ है। यह जो बात मैं अब तक कहता आया हूँ वह इस दृष्टि से कि काव्य या नाटक अथवा अन्य किसी साहित्यांग को साध्य मान लिया गया है। आदि काल से अब तक

हम इसी दृष्टि से इसे देखते रहे हैं। पर अगर साध्य रूप में ही साहित्य को पढ़ना पढ़ाना हो तो कम-से-कम हिन्दी के प्राचीन साहित्य का $\frac{9}{10}$ हमें यथाशीघ्र फेंक देना चाहिए और भविष्य में पाण्डुलिपियों के पीछे भागते फिरने के श्रम से भी छुट्टी ले लेनी चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक अध्ययन–तथापि साहित्य के अध्ययन––साध्य रूप में नहीं, बल्कि साधन रूप में ही अधिक लेना चाहिए। उसे अपनी आधुनिक समस्याओं के वर्तमान जटिल रूप के समझने में सहायक के रूप में ही अधिक देखना चाहिए। प्रधान बात है हमारी आधुनिक समस्याएँ। साहित्य अगर उसके लिए उपयुक्त अध्ययन सामग्री नहीं उपस्थित करता तो वह बेकार है। और इतना तो आप भी मानेंगे कि केवल बिहारी, भूषण और देव को घोट कर कंठाग्र कर रखने वाले पंडित भी आधुनिक युग में केवल निकम्मे ही नहीं, समाज के भार हो जाएँगे। मैं आशा करता हूँ कि पाठक मुझे गलत नहीं समझेंगे। आखिर बिहारी या मतिराम हमारी कौन-सी राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक या वैयक्तिक समस्याओं का जवाब हैं? उनके अध्ययन से हम केवल एक ही फायदा उठा सकते हैं। वह यह कि इनको पढ़ कर, इनका क्रमबद्ध विकास देख कर हम अपनी नित्यप्रति की उन समस्याओं का असली कारण और स्वरूप समझ सकते हैं जो हमें रोज ही जूझने को ललकारती रहती हैं। इसीको मैं साधन रूप में साहित्य का अध्ययन कहता हूँ। मैं जानता हूँ कि आप मेरे साथ निश्चय ही सहमत होंगे कि हिंदी-साहित्य को इस रूप में अध्ययन करने की चेष्टा बहुत कम हुई है।

: १८ :

साहित्यकारों का दायित्व

भारतवर्ष पराधीनता के जाल से मुक्त हो गया है। हमें इस पुराने राष्ट्र के अनेक पुर्जे दुरुस्त करने पड़ेंगे, अनेक जंजाल साफ़ करने होंगे, प्रत्येक क्षेत्र में नव-निर्माण का व्रत लेना होगा। हम जो कुछ भी करने जाएँगे उसके लिये हमें साहित्य चाहिए। हमारे कई विश्व-विद्यालयों ने हिंदी को उच्चतर शिक्षा का माध्यम मान लिया है, बाकी विश्वविद्यालय बहुत शीघ्र ही मानेंगे। इनमें अध्ययन-अध्यापन करने वालों के लिये साहित्य चाहिए। हमारी राजनीति और अर्थनीति अब सिर्फ घरेलू झगड़ों तक सीमाबद्ध नहीं रहेगी, उन्हें विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना होगा। इसीलिए हमें अपने निकट और दूर के सहयोगी राष्ट्रों की भीतरी और बाहरी अवस्था की जानकारी आवश्यक होगी। इसके लिये भी हमें साहित्य चाहिए। बहुत शीघ्र ही इस देश के बड़े-बड़े न्यायालयों और व्यवस्थापिका सभाओं की बहसें और उनके निर्णय देशी भाषा में होंगे। इसके लिये भी हमें साहित्य चाहिये। अगर हमें संसार में महान राष्ट्र बनकर रहना है तो हमें अपनी समूची जनता को ज्ञान-विज्ञान के प्रति उत्सुक और मनुष्य के न्याय्य अधिकारों के प्रति जागरूक बना देना होगा। कल तक हम बातें बनाकर काम चला सकते थे, आज नहीं चला सकते। हमें जीवन के हर क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए साहित्य चाहिये— साहित्य, जो मनुष्य-मात्र की मंगलभावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो।

राजनैतिक पराधीनता बड़ी बुरी वस्तु है। वह मनुष्य को जीवन-यात्रा में अग्रसर होने वाली सुविधाओं से वंचित कर देती है। हमने उस पराधीनता की जंजीरें तोड़ दी हैं। लेकिन सुविधाओं का पा लेना ही बड़ी बात नहीं है, प्राप्त सुविधाओं को मनुष्य-मात्र के मंगल के लिए नियोजित कर सकना ही बड़ी बात है। हमारी राजनीति, हमारी अर्थनीति और हमारी नव-निर्माण की योजनाएँ तभी सर्वमंगल-विधायिनी बन सकेंगी जब कि हमारा हृदय उदार और संवेदनशील होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्राहिणी होगी और संकल्प महान् और शुभ होगा। यह काम केवल उपयोगी और व्यावहारिक साहित्य के निर्माण से ही नहीं हो सकेगा। इसके लिए साहित्य के उन सुकुमार अंगों के व्यापक प्रचार की आवश्यकता होगी जो मनुष्य को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। हमारा काव्य-साहित्य, कथा, आख्यायिका और नाटक-साहित्य ही हमें ऐसी सहृदयता दे सकते हैं। साहित्य का यह अंग केवल वाग्विलास का साधन नहीं होना चाहिए, उसे मनुष्यता का उन्नायक होना चाहिए। जब तक मानवमात्र के मंगल के लिए इन्हें नहीं लिखा जाता तब तक ये अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकेंगे। इस बात के लिए यह भी आवश्यक है कि जीवन के प्रति हमारी जो परम्परालब्ध दृष्टि है वह स्पष्ट और सतेज हो। हमारे पास प्राचीन आचार्यों का छोड़ा हुआ और दीर्घ काल का आजमाया हुआ ज्ञान-भाण्डार है। दुर्भाग्यवश अभी तक वह साहित्य हमारी भाषा में नहीं आ सका है। परिणाम यह हुआ है कि अभी तक हम अपनी ही जीवन-दृष्टि के बारे में अस्पष्ट भाव से सोचने के अभ्यस्त हो गए हैं। आए दिन तरह-तरह की बातें हमारे यहाँ की लिखी हुई बताई जाती हैं। आज जब हम नये सिरे से इस पुराने देश को गढ़ने का प्रयत्न करने जा रहे हैं तो दीर्घकाल की साधना के फल इस विशाल ज्ञानभाण्डार की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। जो लोग साहित्य-निर्माण के कार्य में लगे हुए हैं उन्हें आलस्य और विचिकित्सा का

भाव त्यागकर इस नये और पुराने ज्ञानभाण्डार को अपनी भाषा में ले आने के महान् कार्य का आरंभ जल्दी ही कर देना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम देश की अग्रगति में सहायता तो नहीं ही पहुँचाएँगे, अपने प्रति देशवासियों की उपेक्षा और अवज्ञा के भाव को दृढ़ बना देंगे। इस प्रकार साहित्यसेवियों के सामने इस समय बहुत विशाल कार्य है।

यदि आप ध्यान से मनुष्य की अग्रगति का अध्ययन करें तो आपको मालूम होगा कि बहुत हाल तक मनुष्य के हाथ में बाधाओं पर विजय पाने वाले साधन संयोगवश मिलते गये हैं। केवल पदार्थ-विद्या, रसायन-शास्त्र और प्राणितत्त्व के क्षेत्र में ही संयोग और दैव ने मनुष्य की सहायता नहीं की है, गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में भी उसने सहायता पहुंचाई है। संयोगलभ्य ज्ञान को लेकर मनुष्य ने अंधेरे में और टटोला है और थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ता गया है। यह अवस्था अब कट गई है। अब मनुष्य सुचिन्तित योजनाओं के आधार पर आगे बढ़ रहा है, परन्तु सुचिन्तित योजनाओं के भीतर भी इतिहास-विधाता का वरद हस्त उसे प्राप्त है। वह अधिक विश्वास और अधिक दृढ़ता के साथ आगे बढ़ने का अवसर पा रहा है। नये-नये ज्ञान-विज्ञान ने मानवचित्त को अधिक उदार, अधिक संयत और अधिक शिष्ट होने को मजबूर किया है। यह और बात है कि वह उतना शिष्ट और उदार नहीं हो सका है, जितना होना चाहिये। क्यों नहीं हुआ है, यह विचारणीय प्रश्न है। विज्ञान बहुत बड़ी शक्ति है। शक्तिशाली के पास उदार हृदय और शुभानुध्यायी बुद्धि होनी चाहिये, नहीं तो शक्ति सत्यानाश की ओर घसीट ले जायगी। ज्यों-ज्यों मनुष्य वैज्ञानिक साधनों को हथियाता गया है त्यों-त्यों वह बड़े-बड़े राज्यों का और विशाल उत्पादक यंत्रों का संघटन करता गया है और संसार के सुदूर प्रान्त में स्थित देशों को सहज-गम्य बनाता गया है। आज इन सबकी सम्मिलित शक्ति इतनी विकट दानवाकार बन गई है कि

आश्चर्य होता है। इन बड़े-बड़े राष्ट्रों के पास नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए सुचिन्तित योजनाएँ हैं। उनके पोषक और विरोधी शक्तियों का पूरा ब्यौरा जानकर ये काम किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों का प्रभाव हमारे ऊपर नाना भाव से पड़ता है। हमारी राज-नीति, अर्थनीति यहाँ तक कि शिक्षणनीति भी इनसे प्रभावित होती है; परन्तु परिणाम देखकर निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इन महान् साधनों के मालिकों में उदार हृदय नहीं है, चरित्रबल नहीं है और शुभानुध्यायी बुद्धि नहीं है। अत्यन्त घिनौने युद्ध, बुद्धिमत्तापूर्ण मिथ्या प्रचार और राग-द्वेष से विषायित प्रतिस्पर्द्धा यही सिद्ध कर रही हैं। मैं जितनी दूर तक देखने की दृष्टि पा सका हूँ उतनी दूर तक मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि नियमित प्रयत्नों और सुचिन्तित योजनाओं के बल पर विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्ति और भी शक्ति-शाली होती जायगी, उसे रोकना अब सम्भव नहीं है। नदी की धारा को मोड़ना दुष्कर है। इसीलिए मैं बराबर सोचता हूँ कि यह क्या ऐसे ही छोड़ दिया जाना चाहिये? क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे शक्तिशाली को सहृदय और सच्चरित्र बनाया जा सके? मेरे पास इसका एक ही उत्तर है। यह उपाय है उदार और सरस साहित्य। मेरा मन बार-बार ग्लानि और क्षोभ के साथ जानना चाहता है कि साहित्यिक कहे जाने वाले लोग, जिनका काम ही विश्व को सरस-स्निग्ध और उदार बनाना है, जो संवेदनशीलता को इतना बहुमान देते हैं, विज्ञान की इस बढ़ती हुई शक्ति के साथ क्या ताल मिलाकर चल सके हैं? बाधाएँ हैं, मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि संसार के अनेक साहित्यकार बार-बार सचेत करते आए हैं कि विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य की भीतरी शक्तियों के उद्बोधन का सामंजस्य होना चाहिये। संकीर्ण राष्ट्रीयता, मोहग्रस्त जातिप्रेम और पथभ्रान्त व्यापार-वाणिज्य के साथ विज्ञान के सार्व-भौम सत्यों का कोई मेल नहीं है, अंधाधुंध बढ़ने वाली अनियंत्रित

उत्पादन व्यवस्था के साथ मनुष्य के सार्वजनीन रागात्मक सम्बन्धों का विरोध अवश्यंभावी है; परन्तु मुझे यह भी मालूम है कि ऊँचे सिंहासनों तक इन साहित्यिकों की वाणी नहीं पहुँची है। शक्ति-मद से मत्त लोगों ने इन चेतावनियों का उपहास किया है। हमारे देश के श्रेष्ठ साहित्यकार कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने नाना भाव से यह संदेश मदगर्वित राष्ट्रनायकों तक पहुँचाना चाहा; परन्तु संदेश या तो सुना ही नहीं गया या सुनकर भी उपेक्षित हुआ। मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि झूठी, विद्वेष-प्रचारिणी और विषैली बातों का जितनी तेजी से प्रचार किया गया है उतनी ही निर्दयता-पूर्वक इन शुभ-विधायी वाणियों की अवहेलना की गई है। साहित्यिकों के विचारने के लिये यह बड़ा भारी प्रश्न है। हार तो माननी ही नहीं है। हमें आज सावधानी से बाधक तत्त्वों का अध्ययन करना है और देखना है कि हमारे मंगल प्रयत्न अरण्य-रोदन सिद्ध न हों। अगर संसार को महानाश से बचाना है तो साहित्यिकों को विराट प्रयत्न करने होंगे। इन बाधक तत्त्वों से जूझना होगा। यह मत सोचिए कि हम दुनिया के एक कोने में पड़े हुए ऐसी भाषा के साहित्यिक हैं जो भारतवर्ष की चहारदीवारी के बाहर समझी ही नहीं जाती। इसलिए हमारे प्रयत्न से दुनिया की मदगर्वित राष्ट्रनीति में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। मैं कहना चाहता हूँ कि आज हम यह भूल जायँ कि हिंदी दुर्बलों की दुर्बल भाषा है। वह संसार की अत्यन्त शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।

मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि चीन, थाईलैण्ड, जावा, सुमात्रा आदि एशियाई देशों में हिंदी सीखने की उत्सुकता बहुत बढ़ गई है। यह निश्चित मानिए कि इन देशों के लोग केवल अक्षर-बोध के लिए हिंदी सीखना नहीं चाहते। वह बड़ी-बड़ी चीजों के पाने की आशा से इधर झुके हैं और अगर आपने बड़ी बातें देने और लेने का प्रयत्न किया तो आपके प्रयत्न उपेक्षित

नहीं होंगे। मनुष्य-जाति का अधिकांश इन्हीं देशों में बसा है। इन देशों के मनुष्यों की चिन्ता-धारा अगर मंगल-विधायिनी होगी तो समूची मनुष्यता के लिये वह हितकर होगी। साहित्य-सेवा का अवसर पाना बड़े सौभाग्य की बात है और हिंदी साहित्य की सेवा पाना किसी प्रकार कम सौभाग्य नहीं है। यदि हममें दृढ़ निश्चय होगा तो हम निश्चय ही संसार को उदार और चरित्रवान बना सकेंगे और संसार को महानाश के गर्त में गिरने से उबार सकेंगे। इस समय हमें धीर भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है।

यह लक्ष्य क्या है ? देश के स्वतंत्र हो जाने पर हमें राष्ट्र-निर्माण के लिये अनेक प्रयत्न करने होंगे। हमारे साहित्यिक नेताओं ने इस मंच से अनेक उपाय सुझा रखे हैं। इस प्रकार हमारे पास न तो काम की कमी है, न उपाय की। परन्तु ये काम और ये उपाय हमारे अंतिम लक्ष्य नहीं हैं। हमारे नेताओं की सुझाई हुई योजनाओं के कार्यान्वित होने में कई बाधाएँ हैं। बड़ी भारी बाधा हमारी सामाजिक व्यवस्था ही है। मनुष्य की आदिम वृत्तियों को प्रलुब्ध करने से वह लाभ-हानि की चिन्ता छोड़ देता है। यदि इन वृत्तियों को ही प्रधान उपजीव्य बना कर आदमी कारबार शुरू करने की छूट पा जाय तो वह निश्चय ही सफलता पा जाएगा। फिर वह यह नहीं परवा करता कि इससे उसकी दीर्घकाल की प्राप्त की हुई साधना म्लान हो जाती है या नहीं, त्याग और बलिदान से प्राप्त की हुई मनुष्यता म्लान होती है या नहीं। दुर्भाग्यवश इस समय जो व्यवस्था हमारे सिर पर है, उसमें इस बात की छूट है। मनुष्य के पशुसामान्य मनोभावों को सहलाकर रुपया कमाना इस व्यवस्था में एक हद तक विहित है। साहित्य के द्वारा, रंगमंच के द्वारा और सवाक् पट के द्वारा बहुत-से व्यवसायी उस ओर लग गए हैं। जिन विषयों के गंभीर अध्ययन से मनुष्य का मस्तिष्क परिष्कृत और हृदय सुसंस्कृत होता है, उसमें श्रम लगता है और उसके लिये बाज़ार आसानी से नहीं मिलता। इसीलिये कितनी

भी अच्छी योजना बनाइए और कितना भी सुंदर उपदेश सुना जाइए, सात्विक साहित्य की ओर प्रवृत्ति नहीं जाती और हल्के ढंग का साहित्य बाजी मार ले जाता है। यह सचाई है। फिर भी इस समूची विरोधिता के होते हुए भी हिंदी में गंभीर और अध्ययनशील साहित्य का सर्जन हुआ है, क्योंकि मनुष्य का इतिहास ही सद्वृत्तियों के विजय का इतिहास है। असामाजिक मनोवृत्तियों को दबाकर समागम की मंगल-विधायिनी प्रचेष्टाओं के उत्कर्ष का इतिहास है। हर्ष की बात है कि इस देश के विश्वविद्यालय हिंदी को शिक्षा का 'माध्यम स्वीकार करते जा रहे हैं। इनके लिये पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता भी ज़रूर होगी। इनके लिये बाज़ार भी मिलेगा और इनसे रुपया भी कमाया जा सकेगा। गम्भीर साहित्य भी इस बहाने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा जायगा। इस कार्य में आप हाथ-पर-हाथ धरे बैठ नहीं सकते और क नहीं तो ख इस काम को कर ही लेगा। जिसके लिये बाजार में माँग होगी उसका उत्पादन होकर ही रहेगा। उसके लिये आपको संघटन और सुनिश्चित योजना बनाने की चिन्ता नहीं करनी होगी। हिन्दी को माध्यम स्वीकार कर लेने से ही हमें संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। कारण कि पोथियों की संख्या बढ़ाना या ज्ञान की दूकान चलाना साहित्य का लक्ष्य नहीं है। मेरे मन में हिंदी भाषा और साहित्य का एक विशिष्ट रूप है। हमारे देश में जो स्थान कभी संस्कृत का था और जो स्थान आज अंग्रेजी ने ले लिया है उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिन्दी को बैठना है। मैंने यह बात पहले भी कही है और फिर भी दुहरा रहा हूँ। हिंदी को संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनना है। उसका कर्तव्य बहुत विशाल है। उसे अपने को अपने महान उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती। इस महान् उद्देश्य की

हिंदी पूर्ति कर सके तभी वह उस महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध होगी, जो इतिहास-विधाता की ओर से उसे मिला है। हिंदी भारतवर्ष के हृदय देश में स्थित करोड़ों नर-नारियों के हृदय और मस्तिष्क को खुराक देने वाली भाषा है। हिंदी के ऊपर महान् उत्तरदायित्व की बात जब मैं कहता हूँ तो मेरा मतलब यही होता है। भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो हो और जैसी भी हो, पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा हिंदी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है, साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने वाली भाषा, करोड़ों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग, रुदन-हास्य की भाषा। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है करोड़ों के मानसिक स्तर को ऊँचा करना, करोड़ों मनुष्यों को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाना, करोड़ों को अज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त करना। केवल शिक्षित और पंडित बना देने से यह काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की, जो दूसरों के शोषण में और अपने स्वार्थ साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो? इसीलिये आज जब हमारे सामने गंभीर साहित्य लिखने का बहाना आ उपस्थित हुआ है तो हम जो कुछ भी लिखें उसे अपने महान् उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखें। संसार के अन्यान्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है, उसकी प्रतिक्रिया और अनुकरण नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है उसी प्रकार साहित्य और शिक्षण के क्षेत्र में भी अटकल का सहारा लिया है। उसका फल अच्छा नहीं हुआ है। हमें सौभाग्यवश नये सिरे से सब कुछ करना है। इसी लिये हमारे पाठ्यग्रंथों तथा रसात्मक साहित्य की रचना भी किसी खण्ड सत्य के लिये नहीं होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न

करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मस्तिष्क वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। उसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है। घृणा और द्वेष से कोई बढ़ नहीं सकता। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है, वह शीघ्र ही पतन के गड्ढ़े में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभ-वश, मोह-वश, और क्रोध-वश जो कर्तव्य निश्चित किया जायगा, वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पाई है। वे वृत्तियाँ दबी हैं; किन्तु वर्तमान हैं। उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं। प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है और मनुष्य-मात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बनाने वाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है। हमारा साहित्य इन बातों पर आधारित होगा तभी वह संसार को नया प्रकाश दे सकेगा।

हमारे देश में बहुत शुरू से ही काम करना है। यहाँ की समूची जनता अभी साक्षर भी नहीं हो सकी है। अनेक जातियाँ अभी अत्यन्त आदिम काल की ज़िंदगी बिता रही हैं. रोग और दारिद्र्य के अभिशाप से समूची जनता जर्जर है। इस निरक्षर देश के साहित्यकार की जिम्मेवारी भी बहुत है। दूसरे देशों ने जो कुछ किया है या जो कुछ कर रहे हैं वही उपाय हमारे यहाँ सब समय नहीं चल सकते। हमें सब कुछ नये सिरे से गढ़ना है। हमारे साहित्य में अभी तक कविता, कहानियों और अन्यान्य रसात्मक साहित्य की ही धूम है; परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिये जिस प्रकार के शक्तिशाली, वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है वह हमारे पास नहीं है। इसीलिये साहित्य को अशिक्षित जनता का चित्र जागरूक करने के लिये जितना कुछ करना चाहिए था उतना वह नहीं कर सका

है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था, "कहानी, कविता और नाटक इन्हीं से हमारे साहित्य को पंद्रह आने तैयारियाँ हो रही हैं। अर्थात् दावत का आयोजन हो रहा है, शक्ति का आयोजन बिलकुल नहीं। यह सब कुछ हो रहा है पाश्चात्य देश की चित्ताकर्षक विचित्र चित्तशक्ति के प्रबल सहयोग से। वहाँ मनुष्यत्व देह मन प्राण सभी दिशाओं में व्याप्त है, इसीलिये वहाँ अगर त्रुटियाँ भी हैं तो साथ ही साथ उनकी पूर्ति भी है। मान लो, वटवृक्ष की कोई डाली आँधी से टूट रही है, कहीं पर कीड़े खा खाकर उसे खोखला कर रहे हैं, किसी साल वर्षा ही कम हुई है; परन्तु फिर भी सब मिलाकर वनस्पति ने अपने स्वास्थ्य और शक्ति को बनाए रखा है, उसी तरह पाश्चात्य देशों के मन और प्राणों को क्रियाशील बना रखा है वहाँ की अपनी विद्या ने, अपनी शिक्षा ने, अपने साहित्य ने। इन सबने मिलकर वाक्शक्ति की अथक उन्नति की। इन सबके उत्कर्ष से ही वहाँ का उत्कर्ष है।" हमें भी अपने रसात्मक साहित्य को अगर स्वस्थ और सबल बनाना है तो हमें अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल अपने ढंग की शिक्षा और विद्या की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरों की नक़ल करके हम अपना हित नहीं कर सकते। हमारी समस्याएँ अनेक हैं, परिस्थिति जटिल है। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर हमारी जनता के नाना समूह खड़े हैं। सबका मुँह भी एक ही तरफ नहीं है। सबको उन्नति की ओर ले जाने के लिये हमें नाना प्रकार के प्रयोग करने पड़ेंगे। उद्देश्य की एकता के सिवा इन प्रयोगों में और किसी एकता का आरोप करना भूल होगा। कठिनाइयाँ चाहे कितनी भी क्यों न हों, हमें रास्ता निकालना ही पड़ेगा। हम अपने प्राचीन और महान् देश को अंधकार में भटकने के लिये नहीं छोड़ सकते और काम चाहे हमें कितना भी आरम्भिक अवस्था से क्यों न शुरू करना हो हम अपने लक्ष्य को छोटा नहीं होने दे सकते।

हिन्दी की अनेक प्रकाशन-संस्थाएँ उपयोगी काम कर रही

हैं। इनमें से कुछ का उद्देश्य रुपया कमाना भी हो सकता है; परन्तु जब तक रुपया है और वह कमाया जा सकता है तब तक रुपया कमाने को आप निषिद्ध कर्म नहीं कह सकते। आप केवल इतनी ही आशा कर सकते हैं कि साहित्य जैसी पवित्र वस्तु को निर्माण करने का संकल्प रखनेवाली ये संस्थाएँ रुपया कमाने को समाज-निर्माण के कार्य से बड़ा न समझें। इनमें कुछ संस्थाएँ तो अपना निश्चित उद्देश्य लेकर काम करने लगी हैं। उदाहरणार्थ, कुछ समाज-विज्ञान और समाजवादी व्यवस्था के अध्ययन और प्रचार का प्रयत्न कर रही हैं. कुछ हिन्दी-साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन अंगों का अध्ययन और प्रचार कर रही हैं और कुछ हिन्दू धर्म के नये और पुराने रूपों का ही प्रचार कर रही हैं। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि हिंदी में जो सैकड़ों पत्रिकाएँ और पुस्तकें निकल रही हैं उनको एक निश्चित योजना के अनुसार क्या नहीं निकाला जा सकता? कभी-कभी एक ही विषय की बार-बार पुनरावृत्ति हो जाती है। मैं इन सभी संस्थाओं के संचालकों से प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे एकत्र होकर अपना-अपना कार्यक्षेत्र बाँट लें। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि हमारे यहाँ उच्चकोटि के लेखकों की कमी है और यदि प्रत्येक संस्था कुछ गिने-चुने व्यक्तियों से अपना काम चलाना चाहे तो न तो साहित्य ही उत्तम कोटि का बन पाएगा, न उक्त संस्थाएँ ही लाभान्वित होंगी। विद्वानों की हमारे यहाँ कमी नहीं है। यह साहित्यिक संस्थाओं का कर्तव्य होना चाहिए कि वे विद्वानों को लिखने की ओर प्रवृत्त करावें। हिंन्दी में न जाने कितनी बेमतलब की पुस्तकें और पत्रिकाएँ छप रही हैं। सभी प्रकाशकों से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस प्रकार राष्ट्र के धन का अपव्यय न करके सुचिंतित योजना के अनुसार पुस्तकें प्रकाशित करें।

वस्तुतः हिंदी में अभी किसी भी साहित्यांग पर संतोषजनक कार्य नहीं हुआ। मेरे नौजवान मित्र जब कभी पूछ बैठते हैं कि क्या लिखें

तो मुझे झुंझलाहट होती है। हमारे पास है ही क्या ? हमारा इतिहास विदेशी भाषा में थोड़ा-बहुत लिखा है। हमारी जनता के आचार-विचार, रीति-नीति, भाषा-भाव, नवीन-प्राचीन, धर्म-ईमान के बारे में विदेशियों ने ही थोड़ा-बहुत लिखा है। उनका उद्देश्य सब समय अच्छा ही नहीं होता। उनकी दृष्टि से जो अच्छा है, वह हमारी दृष्टि से भी अच्छा ही होगा, ऐसा ज़ोर देकर नहीं कहा जा सकता। हमारे कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, जंगल-झाड़, मरु-मालव के बारे में भी हमें विदेशी भाषा में ही थोड़ा-बहुत मिल जाता है। विदेशों के लोग-बाग, जीव-जन्तु, नदी-पर्वत और व्यवसाय-वाणिज्य आदि का तो कहना ही क्या है ! जिन विदेशी पण्डितों ने हमारे देश के जड़-चेतन के बारे में परिश्रम-पूर्वक और ईमानदारी के साथ बहुत-कुछ लिख रखा है, उनके हम अवश्य कृतज्ञ होंगे, पर उतने से ही हमें सन्तुष्ट नहीं होना है। हमें अपने देश को अपनी आँखों से देखना है। जब तक हम इस विशाल और महान् देश को उसकी समूची खूबियों के साथ नहीं पहचानते तब तक इसके प्रति हमारा प्रेम मौखिक और क्षणस्थायी होगा। फिर जिस भाषा से करोड़ों जनता अपनी मानसिक भूख मिटाने की आशा करती हो उसमें इतना भी न हो तो कोई कैसे समझे कि सचमुच ही हम इस भाषा से प्रेम करते हैं। इसीलिये अगर निश्चित योजना के अनुसार कार्य किया जाय तो अच्छा और उपयोगी साहित्य बन सकता है।

हिंदी-साहित्य के अध्ययन के लिये कई संस्थाएं काम कर रही हैं और अच्छा काम कर रही हैं; परन्तु अब आवश्यकता है कि हम इसके मूल उत्सों तक पहुँचे। केवल सुयोग और सौभाग्यवश पाई हुई पुस्तकों के आधार पर हिंदी-साहित्य का इतिहास और उसका स्वरूप नहीं समझा जा सकता। हिंदी साहित्य लोक-साहित्य था। आज भारतीय जनसमाज की जो अवस्था है वह सदा से नहीं रही है। नये-नये जनसमूह इस देश में आते रहे हैं और पुराने विचारों को

बदलते रहे हैं। लोककथाओं, लोकोक्तियों और जनता के प्रचलित आचार-विचारों से ऐसी अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता लग सकता है, जो पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकता। साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादिकाल प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवन्त मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार तो उस धारा की ओर अंगुलि निर्देश करते हैं. हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातक आजकल आचार्यत्व (डाक्टरेट) प्राप्त करने के लिये उग्रीव दिखते हैं। विश्वविद्यालयों के अधिकारी इन स्नातकों को यदि लोक-साहित्य की ओर मोड़ सकें तो वे अनेक महार्घ रत्नों को जुटा ले आयेंगे। पुस्तक-साहित्य का अध्ययन भी तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक नाथमत, शाक्त-संप्रदाय, वैष्णव-संहिताओं और बौद्ध और जैन अपभ्रंश साहित्य का अच्छा अध्ययन न प्रस्तुत किया जाय। इन विषयों का अध्ययन अभी तक उपेक्षित है। हिंदी के साहित्य-शोधक इनका भी अध्ययन आरंभ करें तो बहुत कुछ दे सकते हैं। हमारे प्राचीनतर साहित्य का तो कुछ भी अध्ययन हिंदी में नहीं हुआ। बहुत थोड़ी सी धार्मिक पुस्तकें जैसे-तैसे अनुवाद कर ली गई हैं। हमें नाना शास्त्रों की पुस्तकों के संपादन और अनुवाद की ओर यथाशीघ्र ध्यान देना चाहिए। राहुलजी और उनके मित्रों ने पालि साहित्य का अच्छा अंश हिंदी में अनुवादित कर लिया है; परन्तु महायान के विपुल साहित्य को अभी छुआ भी नहीं गया है। यद्यपि देश में जैन विद्वानों और जैन संस्थाओं का अभाव नहीं है, तथापि अभी तक जैन ग्रंथ सर्वजन आस्वाद्य बनाकर नहीं लिखे गए। श्री नाथूराम जी प्रेमी, मुनि जिनविजय जी और पं० सुखलाल जी आदि विद्वानों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, परन्तु विशाल जैन साहित्य को देखते हुए यह कार्य बहुत मामूली जान पड़ता है। और ब्राह्मण-साहित्य को तो हिंदी में पूरा-का-पूरा आ जाना चाहिए था; पर सच पूछिए तो यह साहित्य बिलकुल ही अस्पृष्ट रह

गया। वेद-ब्राह्मण आरण्यकों और उपनिषदों का ही आधुनिक ढंग से संपादन और विवेचन नहीं हुआ तो औरों की तो बात ही क्या। विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र में भी हमें पराजित किया है। हमें अपने समूचे साहित्य को, विविध भाषाओं को, विविध रीति-नीतियों को और संपूर्ण जनता को अनासक्त और अनाविल दृष्टि से देखने का अब व्रत ले लेना है।

बालकों के योग्य पुस्तकों का तो हमारे साहित्य में नितान्त अभाव ही है। यह काम जल्दी ही हो जाना चाहिए। हमें साहित्य के प्रत्येक अंग पर बालकों के लिए साहित्य लिखना ही होगा। हमारे पड़ोसी बंगला-साहित्य में इस विषय में उल्लेखयोग्य कार्य हुआ है। मेरे बच्चे बंगला माध्यम से स्कूल की पढ़ाई पढ़ते हैं। आएदिन वे जो पुस्तकें पढ़ने को ले आते हैं उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य और आनंद होता है। ऐसे उल्लेखयोग्य स्वदेशी-विदेशी, नाटक-काव्य और उपन्यास नहीं हैं, जिनका सारमर्म बच्चों की भाषा में बंगाली लेखकों ने न लिख दिया हो। नाना विषयों पर उन्होंने लेखनी चलाई है। सभ्य जाति अपने बच्चों और स्त्रियों का ज्यादा ध्यान रखती है। हमने इन दोनों ही क्षेत्रों में लापरवाही का परिचय दिया है। बहुत-से प्रकाशक बालकों का साहित्य छापने का कारबार करते हैं, परन्तु दुर्भाग्य-वश बहुतों की शक्ति रीडरबाजी में बर्बाद हो जाती है। बालकों और स्त्रियों के लिये साहित्य की हमें विशेष रूप से आवश्यकता है। शान्तिनिकेतन के हिंदीभवन के लिये जब हम योजना बना रहे थे तो महामना भारत-भक्त दीनबंधु एंड्रूज़ ने बालकों का साहित्य उस योजना का अंग बनाना चाहा था। हम लोगों ने जब आना-कानी की तो उन्होंने ज़ोर देकर कहा, "और कुछ करो या न करो, बालकों के लिये साहित्य लिखने का काम अवश्य करो।" नाना कारणों से हम वैसा नहीं कर सके, पर एण्ड्रूज़ की वह गंभीर मुद्रा और अत्यन्त ज़ोर के साथ कही हुई बात मुझको कभी नहीं भूलती। उस महापुरुष

ने साहित्य की नींव को ही मजबूत करना चाहा था।

हमारे इस निरक्षर देश में प्रौढ़शिक्षा का काम भी शुरू करना पड़ेगा। बालकों के लिये यदि कुछ पुस्तकें मिल भी जायँगी तो प्रौढ़ों के लिये नहीं मिलेंगी। उत्साही और साहसी साहित्यिकों को इस दिशा में दृढ़ता के साथ बढ़ना चाहिये। वैसे तो प्रौढ़शिक्षा स्वमेव बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है, पर हमारे देश में एक और महत्त्व का कार्य इसके साथ जुटा हुआ है। इस देश में आदिम जातियाँ हैं, जिनकी, कहा जाता है, अपनी कोई लिपि नहीं है। अर्थात् वे अब तक लिखने-पढ़ने से वञ्चित थीं। चूंकि ये जातियां लिखना-पढ़ना नहीं जानती थीं, इसलिये मसीही प्रचारकों ने कहना शुरू किया कि इनका कोई लिपि नहीं है। इनकी लिपि वही लिपि है जो हजारों वर्षों से इस देश की लिपि बनी हुई है। स्थान और काल के हिसाब से वह बदलती रही है फिर भी वही लिपि सारे भारतवर्ष की अपनी जातीय लिपि है। प्रौढ़शिक्षा के लिये हमें अनेक आदिमभाषी मित्रों की भाषाओं का अध्ययन करना होगा और उनके लिये उपयोगी और स्वस्थ साहित्य देवनागरी लिपि के द्वारा देना होगा। इस कार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिये।

फिर विज्ञान है, दर्शन है, ललितकला है इनके परिचायकशास्त्र हैं। इनकी पुरानी परंपरा और नई परिणतियों का हमें अध्ययन करना है। हमारे अपने देश का एतद्विषयक साहित्य गंभीर और महत्त्वपूर्ण है। उन ग्रंथों का संपादन, शोधन और अनुवाद हमें करना है। विदेशी साहित्य और दर्शन तथा अन्य विषयों की पुस्तकें और उनका सामंजस्य बनाने वाली पुस्तकें भी आवश्यक हैं। पूर्व और पश्चिम का सम्पूर्ण रस निचोड़ कर ही हिंदी-साहित्य अपने को पुष्ट और सबल बना सकता है।

हमें हिन्दी को एक ऐसी भाषा नहीं बना देना है, जो सर्वसाधारण के निकट अंग्रेजी ही की भाँति दुर्बोध्य बनी रहे या संस्कृत की ही

भाँति कुछ चुने हुए लोगों के शास्त्रार्थ-विचार की भाषा बन जाय। ऐसा करके तो हम निश्चित रूप से हिन्दी का अहित करेंगे। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिये जो मामूली-से-मामूली जनचित्त को ऊपर उठा सके। हमें तो इस भाषा को इस योग्य बना देना है कि वह साधारण-से-साधारण मजदूर से लेकर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग में समान भाव से विहार कर सके।

: १६ :

मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है

१

मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःख-कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। मैं अनुभव करता हूँ कि हम लोग एक कठिन समय के भीतर से गुज़र रहे हैं। आज नाना भांति के संकीर्ण स्वार्थों ने मनुष्य को कुछ ऐसा अन्धा बना दिया है कि जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्य के हित की बात सोचना असम्भव-सा हो गया है। ऐसा लग रहा है कि किसी विकट दुर्भाग्य के इंगित पर दलगत स्वार्थ के प्रेत ने मनुष्यता को दबोच लिया है। दुनिया छोटे-छोटे संकीर्ण स्वार्थों के आधार पर अनेक दलों में विभक्त हो गई है। अपने दल के बाहर का आदमी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। उसके रोने-गाने तक पर असदुद्देश्य का आरोप किया जाता है। उसके तप और सत्यनिष्ठा का मज़ाक़ उड़ाया जाता है। उसके प्रत्येक त्याग और बलिदान के कार्य में भी 'चाल' का सन्धान पाया जाता है और अपने-अपने दलों में ऐसा करनेवाले सफल नेता भी मान लिए जाते हैं; परन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेवाला आदमी सबसे पहले अपना ही अहित करता है। बड़े-बड़े राष्ट्रनायक जब अपनी विराट् अनुचरवाहिनी के साथ इस प्रकार का

गन्दा प्रचार करते हैं तो ऊपर-ऊपर से चाहे जितनी भी सफलता उनके पक्ष में आती हुई क्यों न दिखाई दे, इतिहास-विधाता का निष्ठुर नियमचक्र उनके भीतर-ही-भीतर उनके स्वार्थों का उन्मूलन करता रहता है। इतिहास शक्तिशाली व्यक्तियों और राष्ट्रों की चिताभूमि को कुचलता हुआ आगे बढ़ रहा है, फिर भी गन्दे तरीके सुधारे नहीं गए हैं, बल्कि और भी कौशलपूर्वक उनको प्रभावशाली बनाया जाता रहा है। जो लोग द्रष्टा हैं वे इस गलती को समझते हैं; पर उनकी बात मदमत्त व्यक्तियों की ऊँची गद्दियों तक नहीं पहुँच पाती। संसार में अच्छी बात कहनेवालों की कमी नहीं है, परन्तु मनुष्य के सामाजिक संघटन में ही कहीं कुछ ऐसा बड़ा दोष रह गया है, जो मनुष्य को अच्छी बात सुनने और समझने से रोक रहा है। इसीलिये आज की सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही जाय, बल्कि यह कि अच्छी बात को सुनने और मानने के लिये मनुष्य को कैसे तैयार किया जाय।

इसीलिये साहित्यकार आज केवल कल्पनाविलासी बनकर नहीं रह सकता। शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परमावश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके। साहित्यिक सभाएं यह कार्य कर सकती हैं। वे सम्पूर्ण जनसमाज को उत्तम साहित्य सुनाने का माध्यम बन सकती हैं। इस विशाल देश में शिक्षा की मात्रा बहुत ही कम है। जिन देशों में शिक्षा का समस्या हल हो चुकी है, उनके साहित्यिकों की अपेक्षा यहां के साहित्यिकों की ज़िम्मेदारी कहीं अधिक है। फिर हमने जिस भाषा के साहित्य-भण्डार को भरने का व्रत लिया है, उसका महत्व और भी अधिक है। वह भारतवर्ष के केन्द्रीय प्रदेशों की भाषा है, कई करोड़ आदमियों की ज्ञानपिपासा उसे शान्त करनी है। इसीलिये उसे सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है।

हम लोग जब हिन्दी की 'सेवा' करने की बात सोचते हैं तो प्रायः भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिन्दी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा जिसके विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम हिन्दी है। मनुष्य ही बड़ी चीज़ है, भाषा उसी की सेवा के लिए है। साहित्य सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य अपने आप के लिये लिखा जाता है, उसकी क्या क़ीमत है, मैं नहीं कह सकता; परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाज को रोग शोक, दारिद्र्य-अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्त्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं। मैं मनुष्य की इस अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करता हूँ कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को बदल सकेंगे।

परन्तु हमें सावधानी से सोचना होगा कि हिन्दी बोलनेवाला जनसमुदाय क्या वस्तु है और वास्तव में वह परिस्थिति क्या है, जिसे हम बदलना चाहते हैं। काल्पनिक प्रेत को घूँसा मारना बुद्धिमानी का काम नहीं है। नगरों और गांवों में फैला हुआ, सैकड़ों जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त, अशिक्षा, कुशिक्षा, दारिद्र्य और रोग से पीड़ित मानव-समाज आपके सामने उपस्थित है। भाषा और साहित्य की समस्या वस्तुतः उन्हींकी समस्या है। क्यों ये इतने हीन-दलित हैं? शताब्दियों की सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुलामी के भार से दबे हुए ये मनुष्य ही भाषा के प्रश्न हैं और संस्कृति तथा साहित्य की कसौटी हैं। जब कभी आप किसी विकट प्रश्न के समाधान का प्रयत्न कर रहे हों तो इन्हें सीधे देखें। अमेरिका में या जापान में ये समस्याएँ कैसे हल हुई हैं, यह कम सोचें; किन्तु असल में ये हैं क्या और किस या किन कारणों से ये ऐसे हो गए हैं, इसीको अधिक सोचें। बड़े-बड़े विचारकों ने इस देश के जनसमुदाय के अध्ययन का प्रयत्न किया है अब भी कर रहे

हैं; पर ये अध्ययन या तो इन्हें अच्छी प्रजा बनाने के उद्देश्य से किए गए हैं या वैज्ञानिक कुतूहल-निवारण के उद्देश्य से। इनको इस दृष्टि से देखना अभी बाकी है कि वे मनुष्य कैसे बनाए जायँ। हमारी भाषा, हमारा साहित्य, हमारी राजनीति—सब कुछ का उद्देश्य यही हो सकता है कि इनको दुर्गतियों से बचाकर किस प्रकार मनुष्यता के आसन पर बैठाया जाय।

हमारा यह देश जातिभेद का देश है। करोड़ों मनुष्य अकारण अपमान के शिकार हैं। निरन्तर दुर्व्यवहार पाते रहने के कारण उनके अपने मन में हीनता की गांठ पड़ गई है। यह गाँठ जब तक नहीं निकल जाती तब तक भारतवर्ष की आत्मा सुखी नहीं रह सकती। कर्म का फल मिलता ही है। इससे बचने का उपाय नहीं है। जिन लोगों को अकारण अपमान के बन्धन में डालकर हमने अपमानित किया है, वे लोग सारे संसार में हमारे अपमान के कारण बने हैं।

हमें सावधानी से उनकी वर्तमान अवस्था का कारण खोजना होगा। ये अनादिकाल से हीन नहीं समझे जाते रहे हैं। नाना प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कारण-परम्परा के भीतर से गुज़र कर भारतवर्ष की सैकड़ों जातियोंवाला समाज तैयार हुआ है। इस शतच्छिद्र कलश में आध्यात्मिक रस टिक नहीं सकता। आजकल हम लोग हिन्दू-मुसलमानों की मिलन-समस्या से बुरी तरह चिन्तित हैं। निःसन्देह यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस महान् प्रश्न ने हमारे समस्त जीवन को गम्भीरतापूर्वक विचारने के लिये चुनौती दी है। हम अपनी भाषा के क्षेत्र में भी इस कठिन समस्या से हतबुद्धि हो रहे हैं। हमारे बड़े-बड़े विचारकों ने प्रत्येक क्षेत्र में सुलह करने का व्रत लिया है; परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इससे भी कठोर समस्या का सामना हमें हिन्दू-हिन्दूमिलन के लिये ही करना है। अशान्ति के चिह्न अभी से प्रकट होने लगे हैं। जब हम भाषा या साहित्य विषयक किसी प्रश्न का समाधान करने बैठें

ही केवल वर्तमान पर दृष्टि निबद्ध रखने से हम धोखा खा सकते हैं। मुझे अपनी बुद्धि या दीर्घदर्शिता का गर्व नहीं है, लेकिन जो कुछ अनुभव करता हूँ, उसे ईमानदारी से प्रकट करने से शायद कुछ लाभ हो जाय, इसी आशा से ये बातें कह रहा हूँ। सैकड़ों व्यर्थ जल्पनाओं की भांति ये भी अनन्त वायुमण्डल में विलीन हो जायंगी। मुझे ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यों हमारे देशवासियों में आत्मचेतना का संचार होता जायगा त्यों-त्यों हिन्दू-समाज की भीतरी समस्याएं उग्र रूप धारण करती जायंगी। राजनैतिक बन्धनों के दूर होते ही हमारी मानसिक या आध्यात्मिक गुलामी का बन्धन और भी कठोर प्रतीत होगा। दो सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने में हमें जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कहीं अधिक प्रयास करना पड़ेगा इस सहस्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में।

कवि ने बहुत पहले सावधान किया है कि "जिसे तुमने नीचे फेंक रखा है वह तुम्हें नीचे से जकड़कर बांध लेगा, जिसे पीछे डाल रखा है वह पीछे से खींचेगा, अज्ञान के अन्धकार की आड़ में जिसे तुमने ढक रखा है वह तुम्हारे समस्त मंगल को ढककर घोर व्यवधान की सृष्टि करेगा। हे मेरे दुर्भाग्यग्रस्त देश! अपमान में तुम्हें समस्त अपमानितों के समान होना पड़ेगा।"[1]

शताब्दियों के विकट अपमान की प्रतिक्रिया कठोर होगी। उसके लिये हमें तैयार होना होगा। मुझे ऐसा लगता है कि जब भाषा और साहित्य के मसले पर विचार किया जाता है तो इस तथ्य को बिल्कुल भुला दिया जाता है। हिन्दुओं को अपनी भीतरी समस्याएँ भी हैं और उन भीतरी समस्याओं के लिए जो विचार-विनिमय हुए हैं या हो रहे हैं, वे नाना कारणों से संस्कृत साहित्य से अधिक प्रभावित हुए हैं। वे किसी के प्रति घृणा या अदूरदर्शिता के कारण नहीं हुए हैं। छोटी कही जानेवाली जातियों में ऊपर उठने की आकांक्षा स्वाभाविक है, और

१—रवीन्द्रनाथ : गीतांजलि

उसके लिए उनका संस्कृत-साहित्य की ओर झुकना भी अस्वाभाविक नहीं है। यदि संस्कृतबहुल भाषा के व्यवहार से और समस्त जातियों के ब्राह्मण या क्षत्रिय कहे जाने से सात करोड़ आदमियों में अपने को हीन समझने की मनोवृत्ति कुछ भी कम होती है तो ऐसा करना वांछनीय है या नहीं, यह मैं देश के नेताओं के विचारने के लिये छोड़ देता हूं।

एक जमाना था जब भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ट मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से नस्ल की पहचान होती है, परन्तु शीघ्र ही भ्रम टूट गया। देखा गया है कि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध गवाही देते हैं। भारतवर्ष भाषा-विज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाड़ा सिद्ध हुआ है। वर्तमान हिंदू-समाज में एक-दो नहीं, बल्कि दर्जनों ऐसी जातियां हैं, जो अपनी मूल भाषाएं भूल चुकी हैं और आर्यभाषा बोलती हैं। ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तर-विभाग स्वीकार किया है कि निम्नश्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊंचे स्तर में जाने का प्रयत्न करती है। इस देश में न जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फ़िर्क़े के लोग अपनी भाषा को संस्कृत श्रेणी की भाषा से बदलते रहे हैं। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे में एक भी ऐसा मामला नहीं देखा, जहां आर्यभाषा—संस्कृत श्रेणी की भाषा—बोलनेवाले किसी जनसमुदाय ने अन्य भाषा से अपनी भाषा बदली हो। यहां तक कि आर्यभाषा को एक बोली के बोलनेवालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया है।

स्पष्ट है कि इस देश में संस्कृत-प्राधान्य कोई नई घटना नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि इस भाषा का सहारा लेकर जातियां ऊपर उठी हैं। मैं केवल उन तथ्यों को आपके सामने रख रहा हूं जिनके आधार पर मेरी यह धारणा बनी है कि इस देश के करोड़ों मनुष्यों में आत्म-

चेतना भरने का काम बहुत दिनों से संस्कृत भाषा करती आई है और आगे भी करती रहेगी, ऐसी संभावना है। यह न समझिए कि जो लोग संस्कृतबहुल भाषा का व्यवहार कर रहे हैं, वे किसी संप्रदाय के प्रति द्वेषवश या घृणावश करते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी बेतुकी बातों पर भी आसानी से विश्वास कर लिया जाता है।

दीर्घकाल से ज्ञान के आलोक से वंचित इन मनुष्यों को हमें ज्ञान देना है। शत सदियों से गौरव से हीन इन मनुष्यों में हमें आत्मगरिमा का संचार करना है। अकारण अपमानित इन मूक नरकंकालों को हमें वाणी देनी है। रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास, परमुखापेक्षिता और मूकता से इनका उद्धार करना है। साहित्य का यही काम है।

इससे छोटे उद्देश्य को मैं विशेष बहुमान नहीं देता। आप क्या लिखेंगे, कैसे लिखेंगे और किस भाषा में लिखेंगे, इन प्रश्नों का निर्णय इन्हींकी ओर देखकर कीजिए। यदि इनको मनुष्यता के ऊंचे आसन पर आप नहीं बैठा सकते तो साहित्यिक भी नहीं कहे जा सकते; और यह कहना ही अनावश्यक है कि स्वयं मनुष्य बने बिना, स्वयं छोटे-छोटे तुच्छ विवादों से ऊपर उठे बिना, कोई भी व्यक्ति दूसरे को नहीं उठा सकता है। साहित्य के साधकों को मनुष्य की सेवा करना है तो देवता बनना होगा। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

शायद मेरी ही भांति आप भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि इस बहुधा-विभक्त जनसमुदाय को सम्बद्ध बनाना है। यदि यह बात सत्य है तो मैं समझता हूँ, अभी हमने साहित्य का आरम्भ ही नहीं किया है। हिन्दी में कितने जनसमूहों के परिचायक ग्रन्थ हमने लिखे हैं? इस विशाल मानव-समाज की रीति-नीति, आचार-विचार, आशा-आकांक्षा, उत्थान-पतन समझने के लिए हमारी भाषा में कितनी पुस्तकें हैं? इनके जीवन को सुखमय बनाने के साधनों, इनकी भूमि, इनके पशु, इनके विनोद-सहचार, इनके पेशे, इनके विश्वास, इनकी नई-नई मनोवृत्तियों का हमने क्या अध्ययन प्रस्तुत किया है? कहां है वह सहानु-

भूति और दर्द का प्रमाण, जिसे आप गणदेवता के सामने रख सकेंगे ? हिन्दी की उन्नति का अर्थ उसके बोलने और समझने वालों की उन्नति है।

अपना यह देश कोई नया साहित्यिक प्रयोग करने नहीं निकला है। इसकी साहित्यिक परम्परा अत्यन्त दीर्घ, धारावाहिक और गम्भीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है, उस सबका प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है। यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारी प्राचीन चिन्तनराशि को उसमें संचित नहीं किया गया है। संस्कृत, पालि और प्राकृत की बढ़िया पुस्तकों के जितने उत्तम अनुवाद अंग्रेज़ी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं, उतने हिन्दी में नहीं हुए। परन्तु दुर्भाग्य भी लाक्षणिक प्रयोग है और यह वस्तुतः उस विशाल मानव-समाज का दुर्भाग्य है जो इस भाषा के ज़रिये ही ज्ञान अर्जन करना चाहता है या करता है। यह विशाल साहित्य अपनी भाषाओं में यदि अनूदित होता तो हमारा साहित्यिक सहज ही उन सैकड़ों प्रकार के अपप्रचारों और हीन भावनाओं का शिकार होने से बच जाता जो आज संपूर्ण समाज को दुर्बल और परमुखापेक्षी बना रहे हैं। विभिन्न स्वार्थ के पोषक प्रचारक इस देश की अतिमात्र विशेषताओं का ढंका प्रायः पीटा करते हैं।

इतिहास को कभी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से, कभी जातिगत और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिन्दुस्तानी जैसे हैं, उन्हें वैसा होना ही है और उसी रूप में बना रहना ही उनके लिये श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न-भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखने वाले प्रचारकों ने की है, वह हमारे रोम रोम में व्याप्त होने लगी है। अगर इस ज़हर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रन्थों के देशी प्रामाणिक संस्करण और अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। लेकिन अपनी भाषा में प्राचीन ग्रन्थों को हमें सिर्फ इसलिये नहीं

भरना है कि हमें दूसरे स्वार्थी लोगों के अपप्रचार के प्रभाव से मुक्त होना है। विदेशी पण्डितों ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, मनन और सम्पादन किया है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए, परन्तु यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि अधिकांश विदेशी पण्डितों के लिये हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के समान हैं। उनके प्रति उनका जो सम्मान है, उसे अंग्रेज़ी के 'म्यूज़ियम इन्टरेस्ट' शब्द से ही समझाया जा सकता है। नुमाइश में रखी हुई चीज़ों को हम प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु निश्चित जानते हैं कि हम अपने जीवन में उनका व्यवहार नहीं कर सकते। किसी मुग़ल सम्राट् का चोगा किसी प्रदर्शिनी में दिख जाय तो हम उसकी प्रशंसा चाहे जितनी करें, पर हम निश्चित जानेंगे कि उसको हमें धारण नहीं करना है। परन्तु भारतीय शास्त्र हमारे देश-वासियों के लिये प्रदर्शिनी की वस्तु नहीं हैं। वे हमारे रक्त में मिले हुए हैं। भारतवर्ष आज भी उनकी व्यवस्था पर चलता है और उनसे प्रेरणा पाता है। इसीलिये हमें इन ग्रन्थों का अपने ढङ्ग से संपादन करके प्रकाशन करना है, इनके ऐसे अनुवाद प्रकाशित करने हैं जो पुरानी अनुश्रुति से विच्छिन्न और असंबद्ध भी न हों और आधुनिक ज्ञान के आलोक में देख भी लिए गए हों। यह बड़ा विशाल कार्य है। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमाशालिनी भाषा है। वह हजारों वर्षों के दीर्घकाल में और लाखों वर्गमील में फैले हुए मानव-समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में विहार करने वाली भाषा है। उसका साहित्य विपुल है। उसका साधन गहन है और उसका उद्देश्य साधु है। उस भाषा को हिंदी-माध्यम से समझने का प्रयत्न करना भी एक तपस्या है। उस तपस्या के लिये संयम तथा आत्मबल की आवश्यकता है। हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर गम्भीरतापूर्वक उसके अध्ययन में जुट जाना चाहिए। हिंदी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने वाले उसकी अधिकांश महिमा से अपरिचित हैं।

महान् कार्य के लिए विशाल हृदय होना चाहिए। हिन्दी का साहित्य-निर्माण सचमुच महान् कार्य है, क्योंकि उससे करोड़ों का भला होना है। हम आजकल प्रायः गर्वपूर्वक कहा करते हैं कि हिंदी बोलनेवालों की संख्या भारतवर्ष में सबसे अधिक है। मैं समझता हूँ कि यह बात चिंता की है, क्योंकि हिंदी बोलने वाले जनसमूह की मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक भूख मिटाने का काम सहज नहीं है।

भारतवर्ष के पड़ोसी देशों में आजकल हिंदी-साहित्य पढ़ने और समझने की तब लालसा जाग्रत हुई है। चीन से, मलय से, सुमात्रा से, जावा से—समस्त एशिया से मांग आ रही है। एशिया के देश अब अंग्रेजी पुस्तकों से प्राप्त सूचनाओं से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे देशी दृष्टि से देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य खोजने लगे हैं। आगे यह जिज्ञासा और भी तीव्र होगी। मुझे चिंता होती है कि क्या हम अपने को इस उठती हुई श्रद्धा के उपयुक्त पात्र सिद्ध कर सकेंगे? जिस दिन इतिहास-विधाता हमें ठेलकर विश्व-जनता के दरबार में ला पटकेंगे, उस दिन तक क्या हम इतना भी निश्चय कर सके होंगे कि हमारी भाषा कसी होगी, उसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों का अनुपात क्या होगा और शब्दों के 'शुद्ध' और 'गैर-शुद्ध' उच्चारणों में से कौन-सा अपनाया जायगा!

समूचे जनसमूह में भाषा और भाव की एकता और सौहार्द का होना अच्छा है। इसके लिये तर्क-शास्त्रियों की नहीं, ऐसे सेवाभावी व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो समस्त बाधाओं और विघ्नों को शिरसा स्वीकार करके काम करने में जुट जाते हैं। वे ही लोग साहित्य का भी निर्माण करते हैं और इतिहास का भी। आज काम करना बड़ी बात है। इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, स्पृश्य हैं, अस्पृश्य हैं, संस्कृत है, फ़ारसी है—विरोधों और संघर्षों की विराट् वाहिनी है; पर सबके ऊपर मनुष्य है। विरोधों

को दिन-रात याद करते रहने की अपेक्षा अपनी शक्ति का संबल लेकर उसकी सेवा में जुट जाना अच्छा है। जो भी भाषा आपके पास है, उससे इस मनुष्य को ऊपर उठाने का काम शुरू कर दीजिए। आप का उद्देश्य आपको भाषा बना देगा।

अच्छी बात कहने वालों की कमी इस देश में कभी नहीं रही है। आज भी बहुत ईमानदारी और सचाई के साथ अच्छी बात कहने वाले आदमी इस देश में कम नहीं हैं। उन्होंने प्रेम और भ्रातृभाव का मन्त्र बताया है। अनादिकाल से महापुरुषों ने प्रेम और सौहार्द का सन्देश सुनाया है। कहते हैं, व्यासदेव ने अन्तिम जीवन में निराश होकर कहा था कि मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि धर्म ही प्रधान वस्तु है, उसीसे अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, पर मेरा कोई सुन नहीं रहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नैव कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यताम्॥

ऐसा क्यों हुआ? इसलिये कि समाज के ऐतिहासिक विकास, आर्थिक संयोजन और सामाजिक संघटन के मूल में ही कुछ ऐसी ग़लती रह गई है कि एक दल जिसे धर्म समझता है, दूसरा उसे नहीं समझ पाता। इस वैषम्य को ध्यान में रखकर ही प्रेम और सौहार्द का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। दही में जितना भी दूध डालिए, दही होता जायगा। शङ्काशील हृदयों में प्रेम की वाणी भी शंका उत्पन्न करती है।

मेरी अल्प बुद्धि में तो यही सूझता है कि समाज के नाना स्तरों के लिये अलग-अलग ढंग की भाषा होगी। नाना उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नाना भाँति के प्रयत्न करने होंगे। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामञ्जस्य एक ही बात से होगा—मनुष्य का हित।

भारत के हज़ारों गाँवों और शहरों में फैली हुई सैकड़ों जातियों और उपजातियों में विभक्त सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी हुई यह जनता ही हमारे समस्त वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता है। उसका

कल्याण ही साध्य है, बाक़ी सब कुछ साधन हैं—संस्कृत भी और फ़ारसी भी, व्याकरण भी और छन्द भी, साहित्य भी और विज्ञान भी, धर्म भी और ईमान भी। हमारे समस्त प्रयत्नों का एकमात्र लक्ष्य यही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर भविष्य में आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है। यही सत्य है, यही धर्म है। सत्य वह नहीं है जो मुख से बोलते हैं। सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिये किया जाता है। नारद ने शुकदेव से कहा था कि सत्य बोलना अच्छा है, पर हित बोलना और भी अच्छा है। मेरे मत से सत्य वह है जो भूतमात्र के आत्यन्तिक कल्याण का हेतु हो—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥

यही सर्वभूत का आत्यन्तिक कल्याण साहित्य का चरम लक्ष्य है। जो साहित्य केवल कल्पना-विलास है, जो केवल समय काटने के लिये लिखा जाता है, वह बड़ी चीज़ नहीं है। बड़ी चीज़ वह है जो मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशुसामान्य धरातल से ऊपर उठाता है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है, इसे पाना ही कम तप का फल नहीं है; पर इसे महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख करना और भी श्रेष्ठ कार्य है।

इधर कुछ ऐसी हवा बही है कि हर सस्ती चीज़ को साहित्य का वाहन माना जाने लगा है। इस प्रवृत्ति को 'वास्तविकता' के ग़लत नाम से पुकारा जाने लगा है। तरह-तरह की दलीलें देकर यह बताने का प्रयत्न किया जा रहा है कि मनुष्य की लालसोन्मुख वृत्तियां ही साहित्य के उपयुक्त वाहन हैं। मुझे किसी रूमोरास के विपक्ष में या पक्ष में कुछ भी नहीं कहना है। मुझे सिर्फ़ इतना ही कहना है कि साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं।

जिस बात के कहने से मनुष्य पशुसामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता, वह त्याज्य है। मैं उसीको सस्ती चीज़ कहता हूँ। सस्ती इसलिए कि उसके लिये किसी प्रकार के संयम या तप की ज़रूरत नहीं होती। धूल में लोटना बहुत आसान है, परन्तु धूल में लोटने से संसार का कोई बड़ा उपकार नहीं होता और न किसी प्रकार के मानसिक संयम का अभ्यास ही आवश्यक है। और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि यदि कोई निःसंकोच धूल में लोट पड़े तो इसे हम बहुत बड़ा पुरुषार्थ नहीं कह सकते। हम इस बात को करने योग्य भी नहीं मानेंगे; परन्तु यदि दस-पांच भले आदमी ऊंचे गले से यही कहना शुरू कर दें कि धूल में लोटना ही उस्तादी है तो थोड़ा डरना आवश्यक हो जाता है। भय का कारण इसका सस्तापन है। मनुष्य में बहुत सी आदिम मनोवृत्तियां हैं जो ज़रा-सा सहारा पाते ही झनझना उठती हैं। अगर उनको ही साहित्य-साधना का बड़ा आदर्श कहा जाने लगे तो उसे मानने और पालन करनेवालों की कमी नहीं रहेगी। ऐसी बातों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है, मानों यह कोई साहस और वीरता का काम है।

पुरानी सड़ी रूढ़ियों का मैं पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियां नहीं हैं। वे मनुष्य के दीर्घ आयास से उपलब्ध गुण हैं और दीर्घ आयास से ही पाई जाती हैं। इनके प्रति विद्रोह प्रगति नहीं है। आदिम युग में मनुष्य की जो वृत्तियां अत्यन्त प्रबल थीं, वे निश्चय ही अब भी हैं और प्रबल भी हैं। परन्तु मनुष्य ने अपनी तपस्या से उनको अपने वश में किया है और वश में करने के कारण वह उनको सुन्दर बना सका है। मनुष्य के रंगमंच पर आने के पहले प्रकृति लुढ़कती-पुढ़कती चली आ रही थी। प्रत्येक कार्य अपने पूर्ववर्ती कार्य का परिणाम है। संसार की कार्य-कारण-परम्परा में कहीं भी फांक नहीं थी। जो वस्तु जैसी होने को है, वह वैसी ही होगी। इसी समय मनुष्य आया। उसने इसी नीरंध्र कोठ

कार्य-कारण-परम्परा में एक फांक का आविष्कार किया। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानने से उसने अस्वीकार कर दिया। उसे उसने अपने मन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। जो मनुष्य की पूर्ववर्ती सृष्टि किसी प्रकार बनती जा रही थी, मनुष्य ने उसे अपने अनुकूल बनाना चाहा—यहीं मनुष्य पशु से अलग हो गया। वह पशु सामान्य धरातल से ऊपर उठा। बार-बार उसे उसी धरातल की ओर उन्मुख करना प्रगति नहीं, यह पीछे लौटने का काम है। मैं मानता हूँ कि न तो कभी ऐसा समय रहा है जब लालसा को उत्तेजना देनेवाला साहित्य न लिखा गया हो और न कोई ऐसा देश है जहाँ ऐसा बात न लिखी गई हो; परन्तु मेरा विश्वास है कि मनुष्य सामूहिक रूप से इस गलती को महसूस करेगा और त्याग देगा। यह ठीक है कि मनुष्य का इतिहास उसकी गलतियों का इतिहास है, पर यह और भी ठीक है कि मनुष्य बराबर गलतियों पर विजय पाता आया है। लालसा को उत्तेजन देनेवाला साहित्य उसकी गलती है। एक-न एक दिन वह इस पर अवश्य विजय पाएगा।

सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसके साथ समझौता नहीं हो सकता। साहित्य के चरम लक्ष्य को पाने के लिये भी उसका पूरा-पूरा मूल्य चुकाना ही समीचीन है। जो लोग पद-पद पर सहज और सीधे साधनों की दुहाई दिया करते हैं, वे शायद किसी बड़े लक्ष्य की बात नहीं सोचते। मनुष्य को उसके उच्चतर लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये उसके प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली वृत्तियों के साथ सुलह करने से काम नहीं चलेगा। कठोर संयम और त्याग द्वारा ही उसे बड़ा बनाया जा सकेगा। जो बात एक क्षेत्र में सत्य है, वह सभी क्षेत्रों में सत्य है—साहित्य में, भाषा में, आचार में, विचार में, सर्वत्र। भाषा को ही लीजिए। मनुष्य अपने आहार और निद्रा के साधनों को जुटाने के लिये जिस भाषा का व्यवहार करता है,वह उसकी अनायास-लब्ध भाषा है; परन्तु यदि उसे इस धरातल से ऊपर उठाना है तो

उतने से काम नहीं चलेगा। सहज भाषा आवश्यक है। पर सहज भाषा का मतलब है सहज ही महान् बनाने वाली भाषा, रास्ते में बटोर कर संग्रह की हुई भाषा नहीं।

सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है। सहज भाषा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है। स्वदेश और विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वाङ्मय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर अदना आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा का आदर्श नहीं स्थिर किया जा सकता। क्या कहने या क्या न कहने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श तक पहुँच सकेगा जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है, यही मुख्य बात है। सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है। दाता महान् होने से दान महान् होता है।

जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नहीं बना लिया है, वे यह सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषाशास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा सकती, कोषों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे नहीं गढ़ा जा सकता। कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली, क्योंकि वे सहज हो सके। उनमें दान करने की क्षमता थी! शब्दों का हिसाब लगाने से यह दातृत्व नहीं मिलता, अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर महासहज को समर्पण कर देने से प्राप्त होता है। जो अपने को निःशेष भाव से दे नहीं सका वह दाता नहीं हो सकता। आप में अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायगी। पहले सहज भाषा बनेगी फिर उसमें देने योग्य पदार्थ भरे जांयगे, यह गलत रास्ता है। सही रास्ता यह है कि पहले देने की क्षमता उपार्जन करो—इसके लिये तप की ज़रूरत है, साधना की ज़रूरत है, अपने को निःशेष भाव से दान कर देने की ज़रूरत है।

हिन्दी साधारण जनता की भाषा है। जनता के लिये ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह अपने को जनता के काम की चीज बनाए रहेगी, जनचित्त में आत्म-बल का संचार करती रहेगी तब तक उसे किसी से डर नहीं है। वह अपने आपकी भीतरी अपराजेय शक्ति के बल पर बढ़ी हुई है, लोक-सेवा के महान् व्रत के कारण बड़ी हुई है और यदि अपनी मूल शक्ति के स्रोत को भूल नहीं गई तो निस्सन्देह अधिकाधिक शक्तिशाली होती जायगी। उसका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। वह विरोधों और संघर्षों के बीच ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालने की कोशिश की गई थी, पर वह मरी नहीं है, क्योंकि उसकी जीवनी-शक्ति का अक्षय स्रोत जनचित्त है। वह किसी राजशक्ति की उँगली पकड़कर यात्रा तै करने वाली भाषा नहीं है, अपने आपकी भीतरी शक्ति से महत्त्वपूर्ण आसन अधिकार करने वाली अद्वितीय भाषा है।

शायद ही संसार में ऐसी कोई भाषा हो जिसकी उन्नति में पद-पद पर इतनी बाधा पहुंचाई गई हो और फिर भी जो इस प्रकार अपार शक्ति सञ्चय कर सकी हो। आज वह सैकड़ों 'प्लेटफार्मों' से, कोड़ियों विद्यालयों से और दर्जनों प्रेसों से नित्य मुखरित होने वाली परम शक्तिशालिनी भाषा है। उसकी जड़ जनता के हृदय में है। वह करोड़ों नर-नारियों की आशा और आकांक्षा, क्षुधा और पिपासा, धर्म और विज्ञान की भाषा है। हिन्दी सेवा का अर्थ करोड़ों की सेवा है। इसका अवसर मिलना सौभाग्य की बात है।

२

वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। आपने इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जययात्रा की कहानी पढ़ी है, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों, और उल्लासों का स्पन्दन देखा है, राजनीति में इसीकी लुकाछिपी के खेल का दर्शन किया है, अर्थशास्त्र में इसी की रीढ़ की शक्ति का अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही

वास्तविक लक्ष्य है। आप इससे सीधा सम्बन्ध जोड़ने जा रहे हैं। यह जो प्रत्यक्ष मनुष्य का पढ़ना है वही बड़ी बात है। हमारी शिक्षा का अधिक भाग जिन सब दृष्टान्तों का आश्रय लेता है वे हमारे सामने नहीं आते। हमारा इतिहास पढ़ना तब तक व्यर्थ है जब तक हम उसे इस जीवन्त मानव-प्रवाह के साथ एक करके न देख सकें। हमारे देश का इतिहास—यदि वह सचमुच ही हमारे देश का है—आज भी निश्चय ही हमारे घरों में, गावों में, जातियों में, खण्डहरों में और इस देशके जर्रे-जर्रे में अपना चिह्न छोड़ता जा रहा है। जबतक देश के इन प्रत्येक कणों से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्थापित होता तब तक हम इतिहास का वास्तविक ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकेंगे। हममें से जो कोई भी अपने को शिक्षित समझता हो उसे अपनी उच्च अट्टालिका से नीचे उतर कर अपने प्रदेश के इर्दगिर्द फैले हुये विशाल जन-समूह, विस्तृत भूखण्ड और सजीव चिन्ता-प्रवाह को ही प्रधान पाठ्य पुस्तक बनाना होगा। पुस्तकें इसी महाग्रंथ को समझाने का साधन मानी जानी चाहियें। नोटों और कुंजियों को उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति का निर्दयता-पूर्वक दमन कर देना चाहिये। हम लोग नृतत्त्व के ग्रंथ न पढ़ते हों सो बात नहीं है, किन्तु जब हम देखते हैं कि ग्रंथ पढ़ने के कारण हमारे घरों के निकट जो चमार, धीवर, कोरी, कुम्हार आदि लोग रहते हैं उनका पूरा परिचय पाने के लिये हमारे हृदयों में जरा भी उत्सुकता नहीं उत्पन्न होती तब अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि पुस्तकों के सम्बन्ध में हमें कितना अन्ध-विश्वास हो गया है, पुस्तकों को हम कितना बड़ा समझते हैं और पुस्तकें वस्तुतः जिनकी छाया हैं उनको कितना तुच्छ मानते हैं। यह ढंग गलत है। इसमें सुधार होना चाहिए। विद्या के क्षेत्र में 'सेकेण्ड हैंड' ज्ञान की प्रधानता स्थापित होना वांछनीय नहीं है। दुर्भाग्यवश अपने देश में ऐसे ही ज्ञान की प्रधानता स्थापित हो गई है। हमें यदि सचमुच कुछ नया करना है, तो बड़े विकट प्रयास करने

पड़ेंगे। समूचे देश के मस्तिष्क में जो जड़-संस्कार पैदा कर दिये गए, उनसे जूझना पड़ेगा, इसका संयमन तभी हो सकता है जब हम दृढ़ होकर प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर हों।

आप में से अधिकांश का मार्ग शायद मातृभाषा और उसके साहित्य-द्वारा देश की सेवा करना हो। यह बड़ा उत्तम मार्ग है। परन्तु हमें अच्छी तरह समझ लेने की आवश्यकता है कि साहित्य-सेवा या मातृभाषा की सेवा का क्या अर्थ है। किसे सामने रखकर आप साहित्य लिखने जा रहे हैं? आपके वक्तव्यों का लक्ष्यीभूत श्रोता कौन है? हिन्दी भाषा कोई देवी-देवता की मूर्त्ति का नाम नहीं है। हिन्दी की सेवा करने का अर्थ हिन्दी की प्रतिमा बनाकर पूजना नहीं है। यह लाक्षणिक प्रयोग है। इसका अर्थ है--हिन्दी के माध्यम द्वारा समझने वाली विशाल जनता की सेवा। कभी-कभी हम लोग इस भाषा के प्रति होने वाले अन्यायों से विक्षुब्ध होकर गलत ढंग के स्वभाषा-प्रेमका परिचय देते हैं। अपनी भाषा अपनी संस्कृति और अपने साहित्य से प्रेम होना बुरी बात नहीं है, पर जो प्रेम ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होता है वही प्रेम अच्छा है। केवल ज्ञान बोझ है, केवल श्रद्धा अन्धा बना देती है। हिन्दी के प्रति जो हमारा प्रेम है वह भी ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होना चाहिये। हमें ठीक-ठीक समझना चाहिये कि हिन्दी की शक्ति कहाँ है। हिन्दी इसलिए बड़ी नहीं है कि हम में से कुछ लोग इस भाषा में कहानी या कविता लिख लेते हैं या सभामंचों पर बोल लेते हैं। नहीं, वह इसलिए बड़ी है कि कोटि-कोटि जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने में यह भाषा इस देशमें सबसे बड़ा साधन हो सकती है। हमारे पूर्वजों ने दीर्घ काल की तपस्या और मनन से जो ज्ञान-राशि संचित की है उसे सुरक्षित रखने का यह सबसे मजबूत पात्र है, अकारण और सकारण शोषित और पेषित, मूढ़, निर्वाक जनता तक आशा और उत्साह का संदेश इसी जीवन्त और समर्थ भाषा के

द्वारा पहुँचाया जा सकता है। यदि देश में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को हमें जनसाधारण तक पहुँचाना है तो इसी भाषा का सहारा लेकर हम यह काम कर सकते हैं। हिन्दी इन्हीं सम्भावनाओं के कारण बड़ी है। यदि वह यह कार्य नहीं कर सकती तो 'हिन्दी हिन्दी' चिल्लाना व्यर्थ है। यदि वह यह काम कर सकती है तो उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। यदि वह इन महान् उद्देश्यों के अनुकूल है तो फिर वह इस देश में हिमालय की भांति अचल होकर रहेगी। हिमालय की ही भांति उन्नत, उतनी ही महान् हिन्दी जनता की भाषा है। जनता के लिये ही उसका जन्म हुआ था और जब तक वह जनता के चित्त में आत्मबल संचारित करती रहेगी, उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाती रहेगी तभी तक उसका जीवन सार्थक है। जो लोग इस भाषा और इसके साहित्य की सेवा करने का व्रत लेने जा रहे हों उन्हें यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये।

भारतवर्ष क्या है? अनादिकाल से नाना जातियाँ अपने नाना भांति के संस्कार, रीति-रस्म आदि लेकर इस देश में आती रही हैं। यहाँ भी अनेक प्रकार के मानवीय समूह विद्यमान रहे हैं। ये जातियां कुछ देर तक झगड़ती रही हैं और फिर रगड़-झगड़ कर, ले-देकर पास ही पास बस गई हैं—भाइयों की तरह। इन्हीं नाना जातियों, नाना संस्कारों, नाना धर्मों, नाना रीति-रस्मों का जीवन्त समन्वय यह भारतवर्ष है। विदेशी पराधीनता ने इसके स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचाई है। उसका बाह्यरूप विचित्र-सा दिखाई दे रहा है। इसी वैचित्र्य-पूर्ण जनसमूह को आशा और उत्साह का संदेश देना साहित्य-सेवा का लक्ष्य है। हजारों गांवों और शहरों में फैली हुई, शताधिक जातियों और उपजातियों में विभक्त, सभ्यता के नाना स्तरों पर ठिठकी हुई यह जनता ही हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य है। इसका कल्याण ही साध्य है। बाकी सब कुछ साधन है। आपने जो अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त किया है वह अपने आप में अपना अन्त नहीं है। वह

साधन है। इस भाषा के सहारे आपको इस जनता तक पहुंचना है। इसको निराशा और पस्त-हिम्मती से बचाना आपका कर्त्तव्य है; परन्तु यह कोई सरल काम नहीं है। केवल कुछ अच्छा करने की इच्छा मात्र से यह काम नहीं होगा। आज की समस्याएं बड़ी उलझनदार और जटिल हैं। बिजली की बत्ती मुंह से फूंक कर नहीं बुझाई जा सकती। यह समझने की जरूरत है कि जो दुर्गति आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं उसका वास्तविक कारण क्या है। साहित्य का साधक केवल कल्पना की दुनिया में विचरण करके, केवल 'हाय-हाय' की या 'वाह-वाह' की पुकार करके अपने सामने की कुत्सित कुरूपता को नहीं बदल सकता। हमें उस समूची विद्या को सीखना पड़ेगा जो विश्व-रहस्य के नये-नये द्वार खोल रही है, जो प्रकृति के समस्त गुप्त भण्डार पर धावा बोलने के लिये बद्धपरिकर है, जो मनुष्य को असीम सुख और समृद्धि तक ले जा सकती है, फिर हमें उस स्वार्थ-शक्ति को भी समझना है, जो इस विद्या का गलत प्रयोग करने वाले मनुष्य को सर्वत्र लांछित और अपमानित कर रही है। साहित्य का कारबार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है। जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के लिये कुछ खास-खास विषय ही पढ़ने के हैं वे बड़ी गलती करते हैं। आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड़ फेंकना चाहते हैं तो आप चाहे जो भी मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नहीं रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नहीं कर सकते और विज्ञान की नई प्रवृत्तियों से अपरिचित रह कर कुछ भी नहीं कर सकते। साहित्य केवल बुद्धिविलास नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा करके सजीव नहीं रह सकता।

साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत को असुन्दर छोड़ कर सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामञ्जस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में; धनी और निर्धन में; ज्ञानी और अज्ञानी

में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया सामञ्जस्यमय नहीं कही जा सकती और इसीलिये वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दरता के ढूह में खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े हो कर आप परियों के सौन्दर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है; इसीलिये साहित्यिक को असामञ्जस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा; अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा; भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आंखों को प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को, न बुद्धि को। यह सचाई है।

यदि किसी देश का बाह्य रूप सम्मान योग्य तथा सुन्दर नहीं बन सका है तो समझना चाहिए कि उस राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत् का निर्माण किया जाना शुरू नहीं हुआ है, अर्थात् वहां सच्चे साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश नहीं हुआ है। साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ दिखाई देता है। और साथ ही बाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरंभ होता है। दोनों ही बातें अन्योन्याश्रित हैं। जब कि हमारे देश में नाना भाँति के कुसंस्कार और गंदगी वर्तमान हैं जब कि हमारे समाज का आधा अंग पर्दे में ढँका हुआ है, जब कि हमारी नब्बे फीसदी जनता अज्ञान के मलबे के नीचे दबी हुई है तब हमें मानना चाहिए कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं उसमें कहीं बड़ी भारी कमी रह गई है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ-स्वस्थ नहीं है।

साहित्य की साधना तब तक बंध्या ही रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जाग्रत न कर दें जो सारे मानव-समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिये सदा व्याकुल रहे। अगर यह आकांक्षा जाग्रत हो सकी तो हममें से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार उन सामग्रियों को जरूर संग्रह कर लेगा जो उक्त इच्छा की पूर्त्ति को सहायक हैं। अगर यह आकांक्षा जाग्रत नहीं हुई है तो कितनी भी विद्या क्यों न पढ़ी हो, वह एक जंजाल मात्र सिद्ध होगी और दुनियादारी और चालाकी का ढकोसला ही बनी रहेगी। जो साहित्यिक-निष्ठा के साथ इस इच्छा को लेकर रास्ते पर निकल पड़ेगा वह स्वयं अपना रास्ता खोज निकालेगा। साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा आजतक नहीं रुकी है। भूख होनी चाहिए, एक बार भूख के होने पर खाद्य-सामग्री जुट ही जाती है, पर खाद्य सामग्री के भरे रहने पर भूख नहीं लगती। गरुड़ ने उत्पन्न होते ही कहा था, "मां, बहुत भूख लगती है।" माता विनता घबड़ाकर विलाप करने लगीं कि इस प्रचण्ड क्षुधाशाली पुत्र को अन्न कहां से दे। पिता काश्यप ने आश्वासन देकर कहा था, "कोई चिन्ता की बात नहीं। महान् पुत्र उत्पन्न हुआ है; क्योंकि उसकी भूख महान् है।" हमारी भाषा को भी इस समय प्रचण्ड साहित्यिक-क्षुधावाले महान् पुत्रों की आवश्यकता है। जब तक हमारी मातारूपी भाषा के गर्भ से ऐसे कृती पुत्र पैदा नहीं होते तभी तक वह विनता की तरह कष्ट पा रही है। जिस दिन ऐसे पुत्र पैदा होंगे उस दिन मातृभाषा धन्य हो जाएगी।

इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ब्राह्मण हैं, चाण्डाल हैं, धनी हैं, गरीब हैं—विरुद्ध संस्कारों और विरोधी स्वार्थों की विराट् वाहिनी है। इस में पद-पद पर गलत समझे जाने का अंदेशा है, प्रतिक्षण विरोधी स्वार्थों के संघर्ष में पिस जाने का डर है, संस्कारों और भावावेशोंका शिकार हो जाने का अंदेशा है; परन्तु इन समस्त

विरोधों और संघातों से बड़ा और सब को छाप कर विराज रहा है मनुष्य। इस मनुष्य की भलाई के लिये आप अपने आप को निःशेष भाव से देकर ही सार्थक हो सकते हैं। सारा देश आप का है। भेद और विरोध ऊपरी हैं। भीतर मनुष्य एक है। इस एक को दृढ़ता के साथ पहचाननेका यत्न कीजिये। जो लोग भेद-भाव को पकड़ कर ही अपना रास्ता निकालना चाहते हैं वे गलती करते हैं। विरोध रहे हैं तो उन्हें आगे भी बने ही रहना चाहिये, यह कोई काम की बात नहीं हुई। हमें नये सिरे से सब कुछ गढ़ना है; तोड़ना नहीं है। टूटे को तोड़ना है। भेदभाव की जयमाला से हम पार नहीं उतर सकते। कबीर ने हैरान होकर कहा था—

कबीर इस संसार को, समझाऊं कै बार।
पूंछ जु पकड़े भेद का, उतरा चाहै पार!!

मनुष्य एक है। उसके सुख-दुख को समझना, उसे मनुष्यता के पवित्र आसन पर बैठाना ही हमारा कर्त्तव्य है।

: २० :

नया वर्ष आ गया

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को उत्तर भारत का नया साल शुरू हुआ है। इस दिन पत्रा बदला, नये वर्ष के राजा और मंत्री बदले, धान्य और मेघ के अधिपति बदले, श्रद्धालु लोगों ने ज्योतिषियों से इन नये परिवर्तनों का फल सुना, धार्मिक लोगों ने तेल-उबटन लगा कर परलोक की चिन्ता से छुट्टी पाई और महाराज विक्रमादित्य के महिमा-मंडित नाम के साथ जुड़ा हुआ संवत्सर २००४ उभर कर अग्रसर हुआ। बहुत लोग नहीं जानते कि इस तिथि को ये सब बातें क्यों बदल जाती हैं। क्या इसका कोई इतिहास है, कोई अनुश्रुति है, कुछ अर्थ है या यह केवल पोंगापंथियों की एक कपोल कल्पना मात्र है? नीचे इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया जा रहा है। आज के दुविधा भरे युग में इस संवाद से सन्तोष अनुभव किया जायगा कि उत्तर भारत के नये वर्ष के साथ उत्तर भारत के पत्रों में जो परिवर्तन होते बताये जाते हैं वे नाना आर्य और आर्येतर विश्वासों के समन्वय के परिणाम हैं। शकों, यवनों (ग्रीकों) और आर्यों के राजनैतिक संघर्ष बड़े कठोर हुए थे, परन्तु फिर भी ये जातियाँ भीतर-ही-भीतर मिलन की ओर बढ़ती रहीं। राजनीति के कठोर संघर्ष के आवरण में विश्वासों का यह समन्वय सचमुच बड़े आश्चर्य का विषय है। हमारा नया वर्ष हर साल आकर घोषणा कर जाता है कि ये स्वार्थों के संघर्ष क्षणिक हैं। इनके अन्तराल में मनुष्य अपने मिलन की भूमिका बिना किसी प्रयास के ही तैयार करता जा रहा है।

ज्योतिष की पुरानी पोथियों में लिखा है कि जिस दिन सृष्टि का चक्र प्रथम बार विधाता ने प्रवर्तित किया, उस दिन चैत्र शुदि १ रविवार था। शुदि 'शुक्ल दिवस' का संक्षिप्त रूप है। इसका मतलब शुक्ल पक्ष का दिन है। सो चैत के महीने के शुक्ल पक्ष की प्रथम तिथि (प्रतिपद् या प्रतिपदा) को सृष्टि का आरम्भ हुआ था। यह विश्वास काफी पुराना है। ब्रह्मगुप्त (सातवीं शताब्दी) और भास्कराचार्य के ग्रन्थों में इसकी चर्चा है। ब्रह्मगुप्त काफी प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। इनके ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था। इस अनुवाद ने पश्चिमी देशों को नये सिरे से प्रभावित किया था। इनकी पुस्तकों में इस विश्वास के उल्लेख से जान पड़ता है कि कम-से-कम डेढ़ हजार वर्ष पहले से चैत्र शुक्ल प्रतिपदा वर्षारम्भ की तिथि है। लेकिन ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य ने यह भी लिखा है कि उस दिन रविवार था। अपने देश के पण्डितों में इस विषय को लेकर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है कि वार-प्रथा भारतवर्ष में कितनी पुरानी है। बहुत पुरानी तो नहीं है। इसका सब से पुराना उल्लेख कच्छ राज्य के अंधो गांव में मिले हुए शक क्षत्रप रुद्रदामाकालीन एक लेख में मिला है। यह ५२ शक संवत् (सन् १३० ई०) का है। इसमें स्पष्ट रूप से 'गुरुवार' शब्द का उल्लेख है। हाल कवि की गाथा सप्तशती में भी अंगारवार (मंगलवार) का उल्लेख है। कहते हैं, हाल सुप्रसिद्ध सातवाहन राजा का ही नामान्तर है। इनका समय भी ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार वार-प्रथा का पुराने से पुराना उल्लेख सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी का है। इसलिये जब यह कहा जाता है कि विधाता ने सृष्टि का प्रथम प्रवर्तन रविवार को किया था तो इस विश्वास का मूल बहुत पुराना नहीं हो सकता। सन् ईसवी के बाद का ही हो सकता है।

जो बातें हमारी अत्यन्त परिचित होती हैं उनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि

शताब्दियों की परम्परा से गिनते हुए हम जिस दिन को रवि का वार कहते हैं उसे सुदूर इंग्लैण्ड के लोग अपनी एकदम भिन्न परंपरा से गिनकर भी सन्-डे (सूर्य का दिन) कहते हैं ? सारे संसार में सोम या चन्द्रमा के वार को लोग सोम या चन्द्रमा का वार ही कहते हैं। ईसाई हों या यहूदी, हिन्दू हों या मुसलमान सभी एक-एक दिन को करीब-करीब एकार्थक नामों से ही पुकारते हैं । हमारे जीवन में ये कितने सहज भाव से घुलमिल गए हैं और फिर कितने गंभीर रूप में हमें प्रभावित कर रहे हैं। प्रत्येक धर्म में इन दिनों के साथ व्रत, पूजा और शुभाशुभ फल जुड़े हुए हैं। क्या यह आश्चर्यजनक शुभ संवाद नहीं है कि परस्पर विरोधी समझी जाने वाली संस्कृतियाँ और परम्पराएँ इस विषय में विचित्र भाव से एक हैं। लेकिन मनुष्य की संस्कृतियाँ परस्पर विरोधी नहीं होतीं। हम विचार करके देखें तो इस प्रकार की अचरज भरी बातें थोड़ी नहीं हैं । हमारा नया वर्ष हमें बहुत-सी बातों को सोचने-समझने को मजबूर करता है।

वर्ष का राजा कौन ग्रह होता है ? 'ज्योतिप फलोदय' नामक एक पुराने ग्रन्थ में कहा गया है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को जिस ग्रह का वार होगा वही उस वर्ष का राजा होगा और मेषराशि में संक्रान्ति होने के दिन जिस ग्रह का वार होगा वही मंत्री होगा। बहुत पुराने जमाने से हिन्दुस्तान के लोग नौ ग्रह मानते आए हैं सूर्य, चंद्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु । इनमें सात के नाम पर तो वार हैं; पर राहु और केतु के नाम पर नहीं। क्यों नहीं हैं ? और ये बेचारे क्या राजा या मंत्री होंगे ही नहीं ?

ज्योतिष का मामूली विद्यार्थी भी जानता है कि जिस क्रम से दिनों के नाम में ग्रहों का नाम है उस क्रम से ग्रह आकाश में नहीं दिखाई देते, फिर भी क्या कारण है कि सारे संसार में दिनों के नाम इसी क्रम से हैं ? हमारे एक काफ़ी पुराने ग्रंथ में इसका कारण बताया गया है। यह ग्रन्थ है 'सूर्य सिद्धान्त' । जो बात सूर्य-सिद्धान्त में

थोड़े में कही गई है उसको ज़रा समझा कर यों कहा जासकता है।

बहुत दिनों तक हमारे ज्योतिषी सात ग्रहों की ही बात जानते रहे। पृथ्वी को केन्द्र में समझा जाता रहा। यह विश्वास किया जाता रहा कि सातों ग्रह पृथ्वी को केन्द्र करके परिक्रमा कर रहे हैं। इनके घूमने के मार्ग को कक्षा कहते हैं। सबसे दूर शनि देवता की कक्षा है, फिर उसके नीचे वृहस्पति की, फिर मंगल की, फिर सूर्य की, फिर शुक्र की, फिर बुध की और सबसे नीचे, और इसीलिये पृथ्वी के सबसे नज़दीक, चंद्रमा की कक्षा है। आजकल भी यह क्रम बहुत कुछ ऐसा ही है केवल सूर्य की जगह पृथ्वी मानी गई है और पृथ्वी की जगह सूर्य। चंद्रमा पृथ्वी का उपग्रह है, इसलिए पृथ्वी के साथ ही उसे स्थान बदलना पड़ा है; परन्तु हम पुराने ज़माने की बात कर रहे हैं, इसलिए पुराने ज्योतिष का क़ायदा ही मानना होगा। तो ग्रहों का क्रम अगर ऊपर से लें तो शनि, वृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध, चंद्रमा होगा और नीचे से लें तो उलटा होगा। पुराने ज्योतिषी को इन दो में से किसी एक ही क्रम से सप्ताह के दिनों का नाम रखना चाहिए था, पर उसने कुछ और ही क्रम रखा। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि उन दिनों दिन-रात को २४ होरों में बाँटते थे। होरा यद्यपि हिन्दू ज्योतिष का बहुत प्रचलित शब्द है; लेकिन है यह ग्रीक भाषा का शब्द। अंग्रेज़ी का hour शब्द भी उसी ग्रीक शब्द का रूपान्तर है। होरा अर्थात् hour अर्थात् घंटा। अब, पुराने ज्योतिषी सातों ग्रहों को बारी-बारी से २४ घंटों के मालिक मानते थे। क्रम ऊपर से शुरू होता था। अर्थात् पहली होरा शनि की, दूसरी वृहस्पति की......और अन्तिम चन्द्रमा की। २१ होराओं तक तो हिसाब ठीक-ठीक मिल जाता था। बाकी तीन ग्रहों की तीन होराएँ और मिलती थीं। तब तक दूसरा दिन शुरू हो जाता था और उस दिन की पहली होरा चौथे ग्रह की होती थी। इस तरह

हर दूसरा दिन पहले दिन के आरंभ वाली होरा के मालिक ग्रह से चौथे ग्रह की होरा से शुरू होता था। जो होरा दिन के शुरू में होती थी उसके मालिक को ही सारे दिन का मालिक मान लिया जाता था। इस प्रकार पहला दिन शनि का, दूसरा उसके चौथे ग्रह सूर्य का, तीसरा उसके भी चौथे अर्थात् चंद्रमा का और इसी प्रकार चौथा मंगल का, पाँचवाँ बुध का, छठवाँ वृहस्पति का और सातवाँ शुक्र का होता था। 'सूर्य-सिद्धान्त' में यही नियम संक्षेप में लिखा है। जिस प्रकार दिन में जो होरा शुरू में आती है उसी के मालिक को सारे दिन का मालिक मान लेते हैं उसी प्रकार मास के शुरू में जो होरा होती है उसके मालिक को मासेश और वर्ष के शुरू में जो होरा आती है उसके मालिक को वर्ष का राजा मान लेते हैं। अब यह समझना बहुत आसान है कि ज्योतिष की पोथियों में क्यों लिखा है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को जिस ग्रह का वार होगा वही सारे वर्ष का राजा होगा; क्योंकि उस दिन जिस ग्रह का वार होगा वह ग्रह ही वस्तुतः उस दिन के शुरू में आने वाली होरा का मालिक होता है।

छोटे बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देने वाले सवाल कर बैठते हैं। एक बार मैं यही बात अपने बच्चों को समझा रहा था। छोटी लड़की ने प्रश्न किया कि यदि यही बात सच है तो विधाता ने जिस दिन सृष्टि का पहिया पहले-पहले घुमाया था उस दिन शनिवार होना चाहिए था, रविवार क्यों हुआ ? होशियार माँ-बाप ऐसे मौकों पर बच्चों को डाँट दिया करते हैं, पर मैं सोच में पड़ गया। जवाब तो देना ही चाहिए।

जिन पंडितों ने वार-प्रथा के इतिहास की आलोचना की है उनका कहना है कि दिन-रात को २४ घंटों में बाँट कर गणना करने का रिवाज़ सीरिया और मिस्र आदि देशों में प्रचारित हुआ था। 'होरा' शब्द कुछ इसी रास्ते सोचने को बाध्य करता है। कहते हैं, इन्हीं देशों से यह विद्या सारे संसार में प्रचलित हुई। शुरू-शुरू में शनिवार

से ही सप्ताह का आरंभ हुआ करता होगा। यहूदी लोगों में अब भी शनिवार का महत्त्व ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। इस हिसाब से अन्तिम दिन शुक्रवार का होगा। मुसलमान लोग आज भी शुक्रवार या जुम्मा को विश्राम का दिन मानते हैं।

हमारे देश में असुरों (असीरियनों), यवनों (ग्रीकों), और मगों (मैगीज) से परिचय बहुत पुराना था। मग या शाकद्वीपी ब्राह्मण आज भी भारतवर्ष में बहुत हैं। ये लोग अब भी तांत्रिक समझे जाते हैं। अंग्रेज़ी का 'मैजिक' ('जादू') शब्द इन्हीं मगों की विद्या का नाम है। इसलिये इतना तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि असुरों, यवनों और शकों के संपर्क में आने के बाद भारतवर्ष में वार-प्रथा का प्रचारित होना असंभव नहीं है। हमने पहले ही देखा है कि अब तक हमारे पास जो प्रमाण उपलब्ध हैं उन पर से हम इतना ही समझ सके हैं कि इस प्रथा का पुराने-से-पुराना उल्लेख सन् ईसवी के बाद का है। पश्चिम के साहित्य में इससे भी पुराना उल्लेख उपलब्ध हुआ है। एक बात इस प्रसंग में बड़ी मज़ेदार है। यहूदी लोगों से अपने को पृथक् करने के लिये ईसाई लोगों ने रविवार को सप्ताह का आदि दिन घोषित किया था। धीरे-धीरे सारे संसार में रविवार का प्राधान्य घोषित हो गया। भारतवर्ष में जो रविवार के दिन सृष्टि-प्रवर्तन करने का विश्वास है उसका कारण यह है कि इस देश में सूर्य को बराबर प्रधान ग्रह मानते आए हैं। लेकिन जब मुझे अपने नववर्ष की याद आती है तो यह विचित्र समानता स्मरण हुए बिना नहीं रहती कि हमारे पूर्वजों की ही भाँति ईसाई लोगों के आदि नेताओं ने भी रविवार को बहुमान दिया था।

इस प्रसंग में एक बात और याद आ रही है। विक्रम संवत् सारे भारतवर्ष में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से ही नहीं आरंभ होता। विक्रम संवत् का मूल नाम मालव-संवत् था। मालवा में यह संवत् कार्तिक

शुक्ल १ से शुरू होता है। दक्षिण भारत में भी यह संवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से ही शुरू होता है। केवल उत्तर भारत में यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से आरंभ हुआ माना जाता है। वैसे तो शिलालेखों में चैत्रादि और कार्तिकादि दोनों प्रकार के संवतों का उल्लेख है; परन्तु १२वीं शताब्दी तक के शिलालेखों में साधारणतः कार्तिक शुक्ला १ से ही संवत् का आरंभ माना जाता था। चैत्रादि संवत् का प्रचार इसके बाद ही हुआ है। वस्तुतः चैत्र शुक्ल १ से शक संवत् का आरंभ बहुत प्राचीन काल से ही होता आता था। बाद में उत्तर भारत के पंचांगों और अन्य व्यावहारिक कृत्यों में जब दोनों संवत् का प्रयोग होने लगा तो सुभीते के लिये दोनों का आरंभ एक ही तिथि से माना जाने लगा। शक वर्ष किसी शक राजा का चलाया हुआ है। उन लोगों ने चैत्रादि संवत् का प्रवर्तन किया था। यह शायद इस देश की फ़सलों को ध्यान में रख कर किया गया था। गुप्तों का गुप्त संवत् भी चैत्र से ही आरंभ होता था और आगे चलकर मुसलमान बादशाहों ने भी जो नया सन् चलाया वह चैत्र के आस-पास ही आरंभ होता है। वस्तुतः इस देश के लिये वसन्तादि संवत् ज़्यादा व्यावहारिक है।

मेष राशि में जिस दिन सूर्य का प्रवेश होता है उस दिन सौरवर्ष आरंभ होता है। उसी दिन को मेष संक्रान्ति का दिन कहते हैं। इस दिन जिस ग्रह का वार होता है वह मंत्री होता है। विशुद्ध ज्योतिष की दृष्टि से देखा जाय तो यही तिथि वास्तविक वर्षारंभ की तिथि कही जानी चाहिए; परन्तु नाना कारणों से प्राचीन काल में इस तिथि से मुख्य वर्ष का आरंभ नहीं माना गया। फिर भी इसे गौण वर्ष की आरंभ-तिथि तो मानते ही थे। यही कारण है कि इस तिथि के वार वाले ग्रह को मंत्री का पद दिया गया है। असल में पुराना भारतवासी व्रत-उपवास को प्रधान मानकर वर्ष की प्रधानता मानता था। व्यावहारिक सुभीते के लिये या विशुद्ध ज्यौतिषिक मत से

आरम्भ होने वाले संवत् को वह गौण ही समझता था।

मुसलमान बादशाहों के ज़माने में इस दिशा में एक और प्रयत्न हुआ। उन लोगों का हिजरी सन् विशुद्ध चांद्र वर्ष है। हिन्दुओं के चांद्र वर्ष को अधिमास से संशोधन करके सौर वर्ष के साथ सामंजस्य कर लेने की प्रथा है। मुसलमानी संवत् में यह सामंजस्य नहीं है। इसी लिए मुसलमान बादशाहों ने इस देश में आकर अनुभव किया कि हिजरी सन् से इस देश के नियमित ऋतु-व्यवस्था का कोई मेल नहीं है। इसीलिये उन्होंने उस सन् को सौर वर्ष के साथ चला कर एक बिल्कुल नये संवत् की नींव डाली। फ़सली सन् ऐसा ही सन् है। बाद में इस सन् को विशुद्ध ज्योतिषिक संवत् बना देने का प्रयत्न हुआ। बंगाल में प्रचलित बंगाब्द इसी प्रकारका संशोधन है। यह मेष संक्रान्ति के दूसरे दिन शुरू होता है। पंजाब में वर्ष मेष संक्रान्ति के दिन ही शुरू होता है। भारतवर्ष के अनेक भागों में यह सौ वर्ष मुख्य संवत् बन गया है।

सो, भारतवर्ष के इस राष्ट्रीय संवत् के साथ असुरों, यवनों, शकों और आर्यों का दीर्घ साधना से उपलब्ध ज्ञानों की स्मृति जुड़ी हुई है। वह ईसाइयों और यहूदियों के सांस्कृतिक संघर्ष की याद दिला जाता है और प्रति वर्ष ऊँचे गले से घोषणा कर जाता है कि मनुष्य ही महान् है. उसकी कल्याण बुद्धि ही जगत् के अत्यन्त कठिन प्रश्नों का समाधान करती आ रही है। हमारा नया वर्ष हिन्दुओं और मुसलमानों की सम्मिलित प्रतिभा की स्मृति भी जगा देता है और जो लोग दुविधा में पड़े हुए हैं उन्हें आश्वस्त कर जाता है कि ये विकट भ्रूकुटियाँ ज़्यादा दिन तक परेशान नहीं करेंगी, ये स्वार्थ-संघात क्षणिक हैं। कठोर संघर्ष के भीतर भी मनुष्य की मिलन-भूमि तैयार होती रहती है। हमारा यह राष्ट्रीय त्यौहार पुराने ऋषि की महिमामयी वाणी की याद दिला जाता है, "तुमसे यह गुप्त रहस्य की बात बताए जा रहा हूँ, मनुष्य से बढ़-कर कुछ भी नहीं है—'गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' (महाभारत शान्ति, २९९)।"

: २१ :

भारतीय फलित ज्योतिष

फलित ज्योतिष के ऐतिहासिक विकास की कहानी एक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण विषय है। यह अजीब विरोधाभास है कि जिस विद्या ने देश की प्राय: सम्पूर्ण जनता पर अपना अद्भुत प्रभाव जमा रखा है उसके विषय में लोग जानते अत्यन्त कम हैं। इसका एक कारण तो यह है कि यह विषय शास्त्रीय परिभाषाओं और मर्यादाओं की अपेक्षा रखता है और सीधी-सादी भाषा में इसकी चर्चा करना एकदम असम्भव तो नहीं, पर कठिन अवश्य है। परन्तु जब पाठक इस विषय की जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक हैं तो थोड़ा शास्त्रीय प्रसंग भी उनको बर्दाश्त करना ही पड़ेगा। मैं यथासम्भव सीधी भाषा में इस विषय की साधारण जानकारी कराने का प्रयत्न कर रहा हूँ; परन्तु यह विषय इतना विशाल और जटिल है कि मैं इसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का परिचय चाहूँ भी तो नहीं करा सकता। कोशिश यह करूँगा कि फलित ज्योतिष के विकास की प्रवृत्तियों की ओर इशारा कर दूँ ताकि अधिक जिज्ञासा होने पर पाठक उसे समझने में कुछ मदद पा सकें। मैं अपने अल्पज्ञान का रोना यहाँ नहीं रोऊँगा, क्योंकि उसे बिना कहे भी लोग जान ही जायंगे।

अङ्गरेज़ी में एक कहावत है कि गणित ज्योतिष फलित-रूपी मूर्ख माता की बुद्धिमती सन्तति है। यूरोप के फलित ज्योतिष के सम्बन्ध में शायद यही बात सच भी है। मगर भारतवर्ष में यह कहावत ठीक नहीं कही जा सकती। हमारे देश के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेदों में

फलित ज्योतिष के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं है। यह ठीक है कि केवल वेदों में उल्लेख न होने के कारण ही यह नहीं कहा जा सकता कि गणित ज्योतिष फलित ज्योतिष से उत्पन्न नहीं है; परन्तु भारतीय फलित ज्योतिष चीज़ ही ऐसी है कि वह 'एस्ट्रोनोमी' या ग्रह-नक्षत्रों की विद्या तक ही सीमित नहीं कही जा सकती। भारतीय फलित ज्योतिष एक विशाल विषय है। कब उठना चाहिए, कब बैठना चाहिए, कब जाना चाहिए, कैसे जाना चाहिए, क्यों जाना चाहिए, कहाँ जाना चाहिए, क्या देखना अच्छा है, क्या देखना बुरा है, किस दिन दवा खानी चाहिए, कब बीमार होना अच्छा है, कब दवा खाना अच्छा है, बीमार होकर कब स्नान करना चाहिए, कब चोरी करनी चाहिए, कब खरीद-बिक्री करना अच्छा है—यहां तक कि कब मरना अच्छा है, कब बुरा, यह सब ज्योतिष के आलोच्य विषय हैं। बादल कैसे बनते हैं, सुबह-शाम आकाश लाल क्यों हो जाता है, कब कौन-सी हवा चलेगी, भूमिकम्प क्यों होता है, कब होता है, कहां होता है, ओले क्यों पड़ते हैं, कैसे पड़ते हैं, आँधी, पानी, बर्फ, वृष्टि, तूफान क्या है, कब होते हैं, क्यों होते हैं। ये सब ज्योतिष के विचारणीय प्रश्न हैं। पुरुष में कौन-से चिन्ह अच्छे होते हैं, कौन-से बुरे, स्त्री को कौन-सा चिन्ह रानी बना देता है, कौन-सा कर्कशा, किस चिन्ह से धन मिलता है किससे दारिद्र्य, मिट्टी में गड़ा धन कैसे मिलता है, कौवे का प्रेमालाप क्या सूचित करता है, शृगाली का रोदन किस भावी दुश्चिन्ता का कारण है, उल्लू के कहीं बैठने का क्या अर्थ है, शेर के स्थान विशेष पर शयन करने का क्या फल है, ये सभी बातें ज्योतिष-शास्त्र की व्याख्येय हैं। कैसा मकान बनना चाहिए, रसोई-घर किधर होना चाहिए, चौखट का ठीक न बैठना किस प्रकार के अशुभ का सूचक है, चूल्हा कैसा, कब और किस तरह बनना चाहिए, तालाब कैसा बनना चाहिए, कुआँ किस प्रकार का होना चाहिए इत्यादि बातें भी फलित ज्योतिष के अन्तर्गत हैं। किसी विशेष समय में पैदा

हुए बालक के भविष्य-जीवन में क्या होगा, किसी विशेष तिथि को किसी का वर्ष या मास आरम्भ होना उसके लिए शुभाशुभ का कारण होता है—इत्यादि बहुत-सी बातें फलित ज्योतिष के प्रतिपाद्य हैं। आजकल के अनेक शास्त्र अपरिणत अवस्था में इसके अन्तर्गत थे। इनमें से बहुतों का सम्बन्ध ग्रह और नक्षत्रों से है ही नहीं।

भारतवर्ष में ज्योतिष के अध्ययन का कारण याग-यज्ञ हैं। वैदिक आर्य याग-यज्ञ के प्रेमी थे। विशेष-विशेष यज्ञों के लिए समय का निर्णय करना नितान्त प्रयोजनीय था। काल का निर्णय करने के लिए ज्योतिष-विद्या के सिवा दूसरा रास्ता नहीं था। गणित ज्योतिष के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेदांग ज्योतिष के अन्त में लिखा है कि वेद यज्ञ के लिए अभिप्रवृत्त हुए हैं, और यज्ञों का विधान समय के अनुसार हुआ है। इसलिए काल के विधान करने वाले इस ज्योतिष-शास्त्र को जो जानता है वस्तुतः वही यज्ञों को जानता है।

विद्वानों का इस विषय में मतभेद है कि वैदिककाल में हिन्दुओं को ग्रहों का ज्ञान था या नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि वैदिक ऋषियों ने शुक्र और बृहस्पति जैसे ज्वलन्त ज्योतिष्क पिंडों को देखा था या नहीं, इस विषय पर मतभेद है। भला ज्वलन्त ज्योतिष्क पिंडों को देखने के लिए भारतवर्ष के विशाल मैदान और साफ़ आसमान से बढ़कर और कौन स्थान हो सकता है! असल बात यह है कि आकाश में दो प्रकार के ज्योतिष्क पिंड हैं: एक को नक्षत्र कहते हैं। ये स्वप्रकाश हैं और हम लोगों की इस नाचीज पृथिवी से इतने दूर हैं कि हम हजारों वर्षों में भी इनकी मामूली गति का ही अन्दाज लगा सकते हैं। मध्यकाल के ज्योतिषी तो उन्हें स्थिर ही मानते थे। दूसरे ग्रह हैं जो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और चलते नज़र आते हैं। वैदिक आर्यों ने नक्षत्र और ग्रह का अन्तर समझा था या नहीं, इस विषय पर कई यूरोपियन पंडितों को संदेह है। यद्यपि उनका संदेह निराधार है, तथापि उनका मत तो बता देना आलोचक का

कर्तव्य है ही। देशी पंडितों ने वेदों में आये हुए 'सप्त आदित्य' शब्द का अर्थ 'सात ग्रह' बताया है। यह सत्य है कि वैदिक संहिताओं में बृहस्पति, सूर्य और चंद्र के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रह का नाम नहीं है, पर इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि वैदिक ऋषियों को ग्रहों का ज्ञान था ही नहीं। सौभाग्यवश नक्षत्रों के बारे में ऐसा कुछ बड़ा झगड़ा नहीं है। थोड़ा तो है ही। किसी समय यूरोपियन पंडितों ने बताना चाहा था कि भारतीय नक्षत्रविद्या या तो बैबिलोनिया से भारत में आई थी या चीन से, परन्तु आज शायद ही कोई इन बातों को विचारयोग्य भी मानता हो। उलटे अब यह सिद्ध हो चुका है कि भारत की नक्षत्रविद्या ही उन देशों में गई थी। आज हम इन बातों की विस्तृत चर्चा करना नहीं चाहते, पर इतना जान लेने से हमारा काम आसान हो जायगा कि वैदिककाल में नक्षत्रों का प्रचलन अधिक था। ग्रहों और राशियों की गणना लगभग दो हजार वर्ष पहले से ही हमारे देश में विशेष प्रचलित हुई है।

जो हो, वेदों के बाद जब हम ब्राह्मण-युग में आते हैं तो देखते हैं कि देवता को प्रसन्न करने की अपेक्षा परम्परा और अनुश्रुति ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो उठी हैं। इन परम्पराओं की नाना प्रकार की व्याख्याएं करके उन्हें युक्तिसंगत सिद्ध करने की कोशिश की जा रही है। प्रश्न किया जाता है (ऐतरेय ब्राह्मण २८।६) तृतीय सवन के देवता तो विश्वेदेवाः हैं, तो इस तृतीय सवन के आरम्भ में इन्द्र को उद्दिष्ट, अथच जगती छन्द का सूक्त क्यों पाठ किया जाता है ? (क्योंकि या तो वैश्वदैवत मंत्र पाठ करना चाहिए, या अगर इन्द्रदैवत मंत्र पाठ करना ही अभीष्ट हो, तो उसका छन्द त्रिष्टुप पढ़ना उचित है) इसपर जवाब दिया जाता है कि ऐसा करने से इन्द्र के उद्देश्य से ही यज्ञ आरम्भ करके यज्ञानुष्ठान किया जाता है और तृतीय सवन का छन्द जगती है, इसलिये इससे जगत की कामना होती है। इसी तरह प्रश्न किया जाता है कि फाल्गुनी नक्षत्र में यज्ञ आरम्भ क्यों किया

जाय ? जवाब मिलता है, पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र संवत्सर का मुख है। जो इसमें यज्ञ करता है, वह मुख्य होता है। इत्यादि।

उत्तर संहिता-युग में स्पष्ट ही बताया जाने लगा कि अमुक नक्षत्र में यज्ञ करने से फल शुभ होता है, अमुक में अशुभ। सन् ईस्वी के पहले की लिखी गई ज्योतिष संहिताओं में (जिनका परिचय हम अधिकांश में टीकाकारों के उद्धरणों से ही पाते हैं) यज्ञ के अतिरिक्त विवाह आदि संस्कारों के लिए भी शुभ-अशुभ नक्षत्रों का विधान किया गया है। महाभारत काल में शुभ मुहूर्त में विवाहादि करने की प्रथा चल पड़ी थी। द्रुपद ने युधिष्ठिर को शुभ मुहूर्त में विवाह करने का आदेश दिया था (आदि, १९८)। ज्योतिष का यही प्राचीन अंग विकसित होकर मुहूर्त-शास्त्र के रूप में परिणत हुआ, और आज संसार का कोई काम ऐसा नहीं है, जिसके लिए विधि और निषेध इस शास्त्र ने प्रस्तुत न किये हों।

इसी प्रकार की परम्पराओं के समर्थन के लिए शुभाशुभ फल-निर्देश की नींव पड़ी; परन्तु यह विश्वास भारत के आदियुग में बिलकुल ही नहीं था कि मनुष्य के भाग्य का नियन्त्रण कोई आकाश-चारी ग्रह या नक्षत्र कर रहा है। अपने शुभाशुभ कर्मों के फल-स्वरूप ही मनुष्य शुभ या अशुभ फल पाता है, किसी दूसरे के कारण नहीं। यही साधारण विचार था। ब्राह्मण और उपनिषदों के बाद के युग में यह बात भी विश्वास की जाने लगी थी कि आकाश में चलनेवाले ग्रह-नक्षत्र भी मनुष्य के शुभाशुभ भाग्य के कारण हैं। कुछ यूरोपियन पंडितों का विश्वास है कि यह बात बैबिलोनिया या सीरिया से भारतवर्ष में आई होगी। उन दिनों बैबिलोनिया और सीरिया (या एक शब्द में यूफ्रेटस की घाटियों) में पुरोहितों को भविष्य-फल बताना पड़ता था। इन पुरोहितों को 'बारे' कहा करते थे। 'बारे' लोग बलि दिये गए पशुओं के जिगर और आसमान में चलनेवाले ग्रहों की गति के अनुसार फल बताया करते थे। बहुत सम्भव है कि यूफ्रेटस

उपत्यका की यह विद्या भारतवर्ष में आ गई हो, क्योंकि उन दिनों भारतीय व्यापारी यूफ्रेटस की घाटियों में व्यापार करने जाया करते थे। यह बात ईसा से छः-सात सौ वर्ष पहले की है।

जो हो, ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों के समय में यह बात स्पष्ट ही स्वीकार की जाने लगी थी कि किसी विशेष नक्षत्र में यज्ञ करने का भावी फल शुभ और किसी में अशुभ होता है। धर्मसूत्रों में फलित ज्योतिषी या दैवज्ञ को राजा के लिए आवश्यक बताया गया है। हाल ही में अर्थशास्त्र नाम की पुस्तक आविष्कृत हुई है। कुछ लोगों के मत से इस ग्रन्थ के रचयिता सुप्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त के विख्यात मंत्री चाणक्य हैं, पर कुछ विद्वान् इसे ईस्वी सन् के पहले रखने को राजी नहीं हैं। पर इस विषय में किसीको सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ ईसा के बहुत बाद का नहीं है। इस ग्रन्थ के अनुसार छोटी अदालत के कार्य-वाहकों में शुभाशुभ भविष्य के निर्देश करने वाले दैवज्ञ का रहना आवश्यक है। युद्ध में तो भावी फलाफल के निर्देश के लिए ज्योतिषी का होना निहायत जरूरी बताया गया है। दूसरी तरफ बुद्धदेव ने ज्योतिष-विद्या को गर्हित बताया था।

ईस्वी सन् के आसपास फलित ज्योतिष के अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे, जो प्रायः सब लोप हो गये हैं। ईसा की छठी शताब्दी में एक बहुत बड़े ज्योतिषी वराहमिहिर ने ज्योतिष की प्रत्येक शाखा पर ग्रंथ लिखे। ये ग्रंथ नाना ज्ञातव्य तथ्यों से भरे हैं। इन्हीं ग्रंथों से पता चलता है कि वराहमिहिर के पहले असित, देवल, गर्ग, वृद्धगर्ग, नारद, पराशर, सत्याचार्य, जीवशर्मा, सिद्धसेन, मय, यवन और मणित्थ आदि अनेक आचार्यों ने पुस्तकें लिखी थीं। अन्तिम तीन नामों को ग्रीक बताया जाता है।

वराहमिहिर ने ज्योतिष-शास्त्र को तीन शाखाओं में विभक्त किया है—तंत्र, संहिता और होरा। तंत्र में पाटीगणित (एरिथमेटिक), बीजगणित (अलजब्रा), ग्रहगणित (मेथेमेटिकल एस्ट्रोनोमी), गोल

(स्फ़ेरिकल एस्ट्रोनोमी) और करण (प्रैक्टिकल एस्ट्रोनोमी) शामिल हैं। संहिता में नानाविध प्राकृत घटनाओं का विचार रहता है और होरा-शास्त्र में जन्म के समय के ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति से भविष्य-फल बताया जाता है। अंगरेज़ी में जिसे 'एस्ट्रोलोजी' कहते हैं, वह होरा-शास्त्र ही है। मगर भारतीय फलित ज्योतिष में होरा के अतिरिक्त और अनेक बातें भी सम्मिलित हैं।

पहले हमने बताया है कि अर्थशास्त्र और धर्मसूत्रों के युग में या हज़रत ईसा से कुछ सौ वर्ष पूर्व भारतीय राजाओं को ज्योतिषी अवश्य रखना पड़ता था। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के शुरू में दैवज्ञ या ज्योतिषी का जो लक्षण दिया है, उससे पाठक सहज ही अनुमान कर सकेंगे कि ज्योतिषियों को क्या-क्या काम करना पड़ता था। ज्योतिषी को हर प्रकार के ज्योतिषिक और अन्य गणितों से परिचित होना पड़ता था। देह के फड़कने का क्या अर्थ है, स्वप्न का फल कैसा होता है, विविध शुभ कर्मों के आरम्भ या समाप्त करने का शुभ मुहूर्त कौन-सा है इत्यादि नाना कार्यों के लिए ज्योतिषी की ज़रूरत होती थी, पर जैसा कि अर्थशास्त्र में लिखा है, राजा को ज्योतिषी की सबसे बड़ी आवश्यकता युद्ध के लिए होती थी। ज्योतिषी आक्रमण करने का शुभ मुहूर्त तो बताता ही था, यह भी तै कर देता था कि किस पुरुष के सेनापतित्व में जय की आशा है। उसे घोड़ा, हाथी, खड्ग आदि के इंगितों से भावी शुभाशुभ फल का निर्देश करना पड़ता था। यदि घोड़ा बार-बार ताड़न करने पर भी आगे नहीं बढ़ता और बारंबार मूत्र-पुरीष करता था, तो ज्योतिषी को इस अशुभ शकुन की सूचना राजा को देनी पड़ती थी। हाथी अगर पृथ्वी पर सूँड रख देता, आँख मुकुलित कर लेता और कान खड़ा कर लेता था, तो यह भावी पराजय का लक्षण माना जाता था, परन्तु यदि वह सूँड उठाकर वेग से चल पड़ता, तो राजा की जीत निश्चित मान ली जाती थी।

किसी पुरुष को सेनापति बनाने के पूर्व उसके अरिष्टों की परीक्षा

हुआ करती थी। उन दिनों लड़ाई का जीतना-हारना बहुत-कुछ सेनापति के जीवन-मरण पर निर्भर करता था। सप्तर्षि-मण्डल या 'ग्रेट बियर' में जो वशिष्ठ नामक तारा है, जिसे अंग्रेजी में 'मिज़ार' कहते हैं, उसीके पास एक छोटी-सी तारिका अरुन्धती है। इसे अंग्रेजी में शायद 'एलकर' या 'सैडक' कहते हैं। इसे देख न सकने वाले आदमी की मृत्यु छः महीने के अन्दर हो जाती है। खुली चाँदनी में बहुत देर तक अपनी छाया को देखते रहकर एकाएक ऊपर की ओर ताकने पर पुरुषाकृति छाया होती है, इसे छायापुरुष कहते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि इस छायापुरुष के सिर न दिखाई देने पर मनुष्य शीघ्र ही मर जाता है। अपनी नाक के अगले हिस्से या जीभ का अग्रभाग न देखने वाला आदमी भी ज्यादा दिन का मेहमान नहीं होता। हथेली को ललाट पर रखकर कलाई की ओर अगर स्थिर दृष्टि से ताका जाय, तो वह क्रमशः क्षीण होती दिखाई देती है। यहां तक कि वह पतले सूत-जैसी दिखाई देती है, पर अगर वह बिलकुल टूटी हुई या ऊबड़-खाबड़ दिखाई दे तो मृत्यु निश्चित समझनी चाहिए। इन नाना परीक्षाओं के भीतर से सेनापति को गुज़रना पड़ता था। इसके अतिरिक्त ज्योतिषी को उसका जन्म-पत्र देख कर भी उसके भावी फलाफल का निर्देश करना पड़ता था।

ज्योतिषी को सूर्यादि ग्रहचार का खयाल रखना पड़ता है। कब कौन-सा ग्रह कैसा रंग पकड़ रहा है, उसकी प्रकृति, विकृति, प्रमाण, वर्ण, किरण, प्रकाश, संस्थान, अस्त, उदय, भिन्न पथ, वक्रता, ग्रहण, युति आदि के शुभाशुभ फल को बताना पड़ता था। चन्द्रमा की कोई नोक किस तरफ़ उठी है, मंगल का रंग फीका क्यों हो रहा है, इत्यादि बातें उसे जाननी पड़ती थीं। जिन दिनों गणित ज्योतिष की विशेष उन्नति नहीं हुई थी, उन दिनों भी इन बातों की नाना परीक्षाएँ की जाती थीं। उदाहरणार्थ आजकल यह सभी जानते हैं कि चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा पृथ्वी की छाया में प्रवेश करता है। अतः यह ग्रहण कभी पश्चिम से

आरम्भ नहीं होगा। वराहमिहिर ने इस बात का उल्लेख करते हुए बहुत पुराने आचार्यों की कुछ बातें उद्धृत की हैं। गर्ग ने लिखा है कि अष्टमी के दिन जल में तेल डालना चाहिए। यह तेल जिस ओर नहीं फैलेगा, उसी ओर से ग्रहण की मुक्ति होगी! जो हो, इन सारी बातों की जानकारी दैवज्ञ के लिए नितान्त आवश्यक है।

उसे वर्षा होने न होने की सूचना भी देनी पड़ती थी। उसे वृक्षायुर्वेद, फल-फूल आदि का ज्ञान आवश्यक था। परिधि, चन्द्रमा के चारों ओर का परिवेश, उल्का, वायु, दिग्दाह, भूकम्प, सन्ध्या की लालिमा, गन्धर्व नगर, इन्द्रधनुष इत्यादि क्या हैं, इन सारी बातों की जानकारी उसके लिए नितान्त आवश्यक है। पाठक शायद उस युग के इस विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानने की इच्छा रखते होंगे। बृहत्संहिता से ही कुछ उदाहरण दे रहा हूं—

भूकम्प के लिए काश्यप कहते हैं कि पृथ्वी पानी के ऊपर तैर रही है। पानी में मच्छ, कच्छप आदि बड़े-बड़े जल-जन्तु हैं। उन्हीं के क्षुब्ध होने से पृथ्वी काँप उठती है। गर्ग का कहना है कि पृथ्वी हाथियों की पीठ पर स्थित है। कभी-कभी थक कर वे ही शरीर हिला दिया करते हैं, बस, भूकम्प हो जाता है। वशिष्ठ कहते हैं कि पृथ्वी के ऊपर हवाओं के प्रतिघात होने से धरती काँप उठती है। इत्यादि।

इन सारी बातों के अतिरिक्त ज्योतिषी को मकान, गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, कंबल, खड्ग, पट्ट, मणि-माणिक्य, अजा-कुक्कुर आदि के लक्षण जानना जरूरी था। उसे खंजन, शृंगाली, काक, कुत्ता, चामर, आसन आदि के शुभ और अशुभ लक्षणों का जानना आवश्यक समझा जाता था। मगर यहीं तक अन्त न था। यद्यपि मैं इस सूची का यहीं अन्त कर देना चाहता हूँ। ज्ञातव्य विषयों की नीरस सूची देकर मैं पाठकों का समय बर्बाद करना नहीं चाहता।

अब तक हम जिन बातों की चर्चा करते आये हैं, वे प्रायः उस युग की हैं, जब कहा जाता है, भारतीय ज्योतिष के ग्रन्थों में ग्रहों की

विशेष चर्चा नहीं है। राशिचक्र के बारह विभागों की चर्चा भी नहीं है। कुछ यूरोपियन पंडितों की धारणा है कि ग्रह और राशियों का ग्रीकों ने भारतवर्ष में परिचय कराया था। यह परिचय भी हज़रत ईसा के तीन-चार सौ वर्ष बाद हुआ है। हमारी अपनी धारणा यह है कि ग्रहों का ज्ञान आर्य-पूर्व भारतीय जातियों में पहले से ही विद्यमान था, और राशियों का परिचय हिन्दुओं ने पर्शियनों की मध्यस्थता में एसीरियनों या असुरों से प्राप्त किया था। जो हो, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में भारतीय ज्योतिष में एक नया युग शुरू हुआ। इस समय ग्रहों और राशियों को प्रधानता दी गई, और सबसे बड़ी बात यह हुई कि भारतीय समाज में इस विचार को एक स्थायी स्थान मिल गया कि आकाश में चलने वाले ग्रह-पिण्ड मनुष्यों के भाग्य का नियन्त्रण कर रहे हैं। यह बात हिन्दुओं के परम्परागत विश्वास से एकदम विपरीत थी, तथापि उनकी 'समझौते की' प्रकृति के अनुसार उसे जगह मिल गई; परन्तु उस युग में जब यह विचार पहले-पहल हिंदू-समाज के सामने आया तो एक बहुत बड़ा आन्दोलन हुआ। कहा गया 'कि जब पूर्व जन्म का कर्मफल ही इस जन्म में पाना है और वह पाना होगा ही, तो यह भाग्य-निर्णय का बावेला कैसा? जवाब दिया गया—"पूर्व-जन्म में जो शुभाशुभ कर्म किया गया है, उसके फल को यह शास्त्र उसी तरह व्यक्त कर देता है, जिस तरह अन्धकार में प्रदीप।" और भी बताया गया कि कुछ कर्म तो दृढ़ मूल होते हैं और कुछ शिथिल-मूलक (उत्पल, बृहज्जातक की टीका) दूसरे प्रकार के कर्मों का फल जानकर दान, जप-तप आदि के द्वारा निवारण किया जा सकता है। असल में इस युग के इस नये विचार

'येन तु यत्प्राप्तव्यं तस्य विपाकः सुरेशसचिवोऽपि।
यः साक्षान्नियतिज्ञः सोऽपि न शक्तोऽन्यथाकर्तुम्॥'

—शौनक

ने सारे हिंदू धर्म को बड़ी दूर तक प्रभावित किया और सच तो यह है कि पिछले डेढ़ हज़ार वर्ष का हिंदू-धर्म तीन टांगों पर खड़ा हुआ है—जाति-भेद, खान-पान और फलित ज्योतिष।

पुरानी प्रथा से नई प्रथा की विशेषता बताने के पहले हम इस नई प्रथा का थोड़ा-सा परिचय दे देना चाहते हैं। इस नये युग में सबसे अधिक महत्त्व राशियों और ग्रहों को दिया गया। जिस मार्ग में सूर्य पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाया करता है, उसे क्रांतिवृत्त कहते हैं। इसे बारह हिस्सों में बाँटा गया है। प्रत्येक हिस्से में नक्षत्रों के व्यूह से एक-एक राशि बन जाती है। इन राशियों मेष (भेड़ा), वृष (बैल), मिथुन (जोड़ा), कर्क (केंकड़ा), सिंह, कन्या, तुला (तराज़ू), वृश्चिक (बिच्छू), धनुः (धनुष), मकर (मगर), कुम्भ (घड़ा) और मीन (मछली) कहते हैं। ये नाम इनके आकार के अनुसार रखे गए हैं। सूर्य और चाँद के अतिरिक्त उन दिनों आकाश में चलने वाली अन्य पांच ताराएं पहचानी गई थीं। इन सातों को ग्रह कहते हैं। इन सातों का नाम आप सभी लोग जानते हैं। हमारे सप्ताह के दिनों के नाम इन्हीं ग्रहों के नाम पर रखे गये हैं। ये नाम हैं—सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, और शनि। बस नये युग के ज्योतिष का सर्वस्व इन उन्नीस नामों के ही भेद-उपभेद हैं। अगर आप रात में आकाश को रोज ध्यान से देखें, तो मालूम होगा कि नित्य ही 'होराइज़न' या क्षितिजपर कोई नवीन नक्षत्र दिखाई पड़ता है। अन्ततः एक ही नक्षत्र एक ही समय सदा एक ही बिन्दु पर नहीं रहता। अगर आप मेष, वृष आदि राशियों को पहचानते हैं, तो देखेंगे कि आकाश में एक बार मेष आकर लगता है, फिर वृष और फिर मिथुन। जो राशि क्षितिज पर लगती रहती है उसे लग्न कहते हैं। यह लग्न ज्योतिष की सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है। इससे शरीर का विचार करते हैं। ज्योतिष के ग्रन्थों में इसका खूब सूक्ष्म विचार किया गया है कि कौन-सी राशि लग्न में आ-आकर

कौन-कौन-सा फल देती है। अगर उस राशि में कोई ग्रह हो तो उसका क्या फल होगा। इत्यादि।

लग्न अगर आपकी समझ में आ गया होगा तो आप आसानी से समझ सकते हैं कि उसकी सातवीं राशि पश्चिम के आकाश या अस्त क्षितिज में लगी होगी। यह दूसरी प्रधान चीज़ है, उस पर से स्त्री और स्वामी का विचार करते हैं। अगर यह राशि अच्छी हुई, उसमें अच्छे-अच्छे ग्रह रहे, तो स्त्री भी अच्छी मिलेगी। अगर ग्रहों में झगड़ने वाले पहुँच गये तो पति-पत्नी में सदा महाभारत छिड़ा रहेगा। और तीसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है सिर के ऊपर। यहाँ लग्न की चौथी राशि रहेगी। इससे सुख और माता-पिता का विचार करते हैं। चौथा महत्त्व का स्थान होगा सुख स्थान के ठीक उल्टे, नीचे। इसे भाग्य का स्थान कहते हैं। यह स्थान इतना महत्त्वपूर्ण है कि कोई यजमान इसके बारे में पूछे बिना नहीं रहता। इन चारों को केन्द्र-स्थान कहते हैं। इन्हीं केन्द्रों के अगल-बगल जीवन-संबंधी अन्य आवश्यकताओं के फल-निर्णायक स्थान होते हैं। लग्न शरीर स्थान के एक तरफ धन का और दूसरी तरफ खर्च का कोठा होता है। सुख के एक तरफ भाई और दूसरी तरफ पुत्र और विद्या का घर होता है। पति-पत्नी के कोठे की एक ओर शत्रु और दूसरी ओर मृत्यु का घर होता है और भाग्य की एक बगल में धर्म और दूसरी में आमदनी का कोठा रहता है। ज्योतिष के आचार्यों ने ग्रहों की मित्रता और शत्रुता की बात तै कर रखी है। यह भी बता रखा है कि कब कौन-सा ग्रह उच्च का होता है और कब नीच का। कौन और कब शुभ होता है, कौन और कब अशुभ। अर्थात् विविध भेद-उपभेद, भाग-विभाग के बल पर इन उन्नीस वस्तुओं का ही विचार किया जाता है।

एक सवाल और रह गया। पाठक कह सकते हैं कि लग्न तो बारह ही होते हैं, इसलिए एक लग्न आसमान में करीब-करीब दो घंटे ठहर सकता है। इन दो घंटों में न जाने कितने बच्चे पैदा होंगे। क्या उन

सबका भाग्य एक जैसा ही होगा ? ज्योतिषी इसके जवाब में कहेगा—नहीं, ऐसा नहीं होता। लग्न के इन दो घंटों के प्रत्येक क्षण में कुछ-न-कुछ विशेषता है। मोटे तौर पर एक लग्न में पैदा होनेवाले की मोटी-मोटी बातें प्रायः समान ही होंगी, पर सूक्ष्म भेद में अन्तर भी काफी होगा। इस बात को ध्यान में रख कर ज्योतिषी ने लग्न के अनेक भेद किये हैं। वह इन सारी बातों को देखकर फल बताता है।

पुरानी प्रथा से नई प्रथा का भेद बताते समय मैं इस बात पर भी विचार कर लेना अच्छा समझता हूँ कि इस नई प्रथा से क्या लाभ या नुकसान हुआ। पुराने ज्योतिषी को प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ता था। किसी दूसरे के परिश्रम से वह बहुत कम ही लाभ उठा सकता था। खेतीबारी की वृद्धि या युद्ध के प्रश्न के उत्तर में उसे प्रकृति के नाना तथ्यों का अध्ययन करना पड़ता था। उदाहरणार्थ, उसे जानना पड़ता था कि आषाढ़ी योग के दिन जब सूर्य अस्त होता है, उस समय यदि पूर्वी हवा पूर्व समुद्र के तरंग-शिखरों पर आस्फालन करके आघूर्णित हो तथा चन्द्र-सूर्य की किरणरूपी जटा के अभिसंघात से बद्ध हो तो सारी पृथ्वी अनेक स्थानों पर नील मेघ पटल-सम्पन्ना और संवर्द्धित शारदीय फल शस्यमयी होती है और प्रचुर परिमाण में वासन्तिक अन्न उत्पन्न होता है, अर्थात् खरीफ़ और रबी दोनों ही फसल खूब होती है (बृ० २७। १)। सूर्य के अस्त जाते समय जब नैर्ऋत्य कोण की हवा छोटे इलायची और लवंगलतिकाओं को समुद्र-तट पर लोट-पोट करा दे तो भूख-प्यास के मारे मनुष्यों की ठठरियों और तृण-गुच्छ के भार से ढकी हुई पृथ्वी उन्मत्त प्रेत-वधू की तरह दृष्टि होगी (बृ० सं० २७।३)। सूर्य के अस्त जाते समय वायु धूल उड़ाकर जटाजूट की आकृति धारण करे और गर्व से चंचल होकर बहे, तो पृथ्वी पर अन्न की कमी तो न होगी, परन्तु बड़े-बड़े राजाओं का समर-भूमि बनकर मांस, खून और हड्डियों से लद जायगी। इत्यादि।
किन्तु नये युग के ज्योतिषी को हवा-पानी, आकाश-पाताल के इतने

अध्ययन की आवश्यकता नहीं थी। प्रश्न लग्न के समय की ग्रहों और राशियों की परिस्थिति का समझ लेना ही उसके लिए पर्याप्त था। उसे जानना चाहिए कि प्रश्न करते समय यदि सूर्य वृश्चिक राशि में हो, केन्द्र में अच्छे-अच्छे ग्रह हों, या कम-से-कम उन ग्रहों को देख रहे हों, तो वासंतिक या रबी की फ़सल अच्छी होगी (ज्योतिनिर्बंध, पृ० २७०)। चन्द्रमा यदि प्रश्न करते समय लग्न में या कर्क, कुम्भ या मीन राशि में हो, या केन्द्र-स्थान में हो और अच्छे-अच्छे ग्रह उसे देख रहे हों तो वृष्टि तत्काल ही होगी। इत्यादि।

नये युग में फलित ज्योतिष ने जो रूप ग्रहण किया, उससे गणित ज्योतिष के या ग्रह-नक्षत्रों की विद्या के अध्ययन में खूब वृद्धि हुई, परन्तु अन्य प्राकृतिक व्यापारों का अध्ययन शिथिल पड़ गया। दूसरा दोष यह हुआ कि फलित का ज्योतिषी सम्पूर्णतः ग्रह-गणित के ज्योतिषी पर निर्भर रहने लगा। अगर कोई गणित से ग्रहों की स्थिति निकाल कर रख दे तो फलित ज्योतिषी का काम बहुत सरल हो जाय, और हुआ भी वैसा ही। जहां पुराने ज्योतिषी को दिन, महीना, ऋतु आदि के सब विपर्यय पर लक्ष्य रखना पड़ता था, वहां नये ज्योतिषी के लिए केवल पत्रे का ही शस्त्र पर्याप्त था। पुराना ज्योतिषी जानता था, उसे इस बात का लक्ष्य रखना पड़ता था कि अगर गर्मी के मौसम में ठण्ड या ठण्ड के मौसम में गर्मी पड़ी, तो रोग और राष्ट्र का भय होगा। अगर बरसात के सिवा अन्य ऋतु में लगातार सात दिन तक वर्षा होती रही तो सम्राट् के मरण की आशंका होगी (बृ- सं० ४६, ३६-४०), यदि दिन या रात में निर्मेघ आकाश में पूर्व या पश्चिम में इन्द्रधनुष देखा गया तो अकाल का भय है। इत्यादि। नये ज्योतिषी को यह सब देखने की क़तई ज़रूरत न थी।

नये युग में राशि और ग्रहों के ज्योतिष ने बड़ा विशाल रूप धारण किया। केवल जन्मकालीन ग्रहस्थिति पर से ही फल नहीं कहा जाता था। वर्ष पूरा करके दूसरे वर्ष में प्रवेश करने की ग्रह-स्थिति पर से भी

फल बताया जाता था। मास पूरा करके दूसरे मास में प्रवेश करने के समय की ग्रहस्थिति से भी महीने भर का फल बताया जाता था। ज्योतिष के इस विभाग का नाम ताजिकशास्त्र है। ताजिक अरबी लोगों को कहते हैं। इससे आप समझ सकते हैं कि यह शास्त्र मुसलमानों से हिंदुओं को मिला। ताजिक के सभी पारिभाषिक शब्द अरबी से लिये गए हैं।

मुसलमान ज्योतिषियों ने एक दूसरे विभाग को भी ज्योतिष में परिचित कराया। इसे रमल-शास्त्र कहते हैं। रमल अरबी के रम्माल शब्द का संस्कृत रूप है। रमल का सम्बन्ध ग्रहों और राशियों से नहीं है।

ज्योतिष का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है शकुन-शास्त्र। शकुन शब्द का अर्थ है पक्षी। जान पड़ता है कि आरम्भ में यह विषय पक्षियों तक ही सीमित रहता था। प्राचीन युग के नाना कुतूहल और कुसंस्कारों के कारण यह शास्त्र विकसित हुआ है। बाद में इसमें अन्य अनेक ऐसी बातें भी सम्मिलित हुईं, जिनका पक्षियों से कोई सम्बन्ध नहीं था। शकुन कुछ शुभ होते हैं और कुछ अशुभ. अशुभ शकुन [illegible] शारीरिक और प्राकृतिक उन क्रियाओं का समावेश है [illegible] मात [illegible] जाती हैं। छींक एक आकस्मिक शरीर-व्यापार है, [illegible] अशुभ है। अकाल में पुष्प का खिलना एक आकस्मिक व्यापा[illegible], अत[illegible]व यह अशुभ है। गाँव में शृगाली का रोदन एक असाधारण बात है, इसलिए इसका फल खराब है। दिन में तारा दिखाई देना, मूर्त्ति का हँसना आदि जो बातें साधारणतः दृष्टि नहीं होतीं, वे सब अशुभ शकुन हैं। क्योंकि कुछ चीज़ें ऐसी हैं, जिन्हें आप कह नहीं सकते कि ये क्यों शुभ हैं और दूसरी क्यों अशुभ। उदाहरणार्थ, मुर्दा, वेश्या, धोबी और मछली का देखना शुभ है, पर कषाय वस्त्रधारी संन्यासी का देखना अशुभ। अन्य अनेक बातें भी ज्योतिषी को जानना पड़ता था। मगर यह फिर कभी। आज तो यहीं रुका जाय।